वैदेही बनवास

ॐ

वैदेही-वनवास

(करुणरस प्रधान महाकाव्य)

लेखक
साहित्यवाचस्पति, साहित्यरत्न, कविसम्राट
पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रकाशक
हिन्दी - साहित्य - कुटीर
बनारस

द्वितीय संस्करण } संवत् २००३ वि० { मूल्य २॥)

प्रकाशक
हिन्दी - साहित्य - कुटीर
बनारस

मुद्रक
ह० मा० सप्रे,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी।

महर्षिकल्प, महामना, परमपूज्य कुलपति

श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीय

समर्पण

—
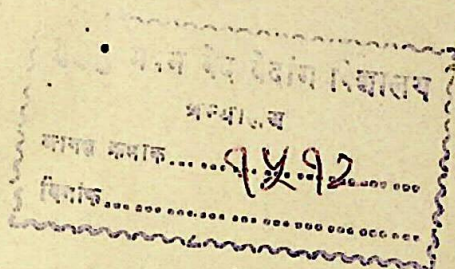
महर्षिकल्प, महामना, परमपूज्य कुलपति

श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीय

के

पवित्र करकमलों में सादर

समर्पित

साहित्यवाचस्पति, साहित्यरत्न, कविसम्राट्

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

ॐ

वक्तव्य

करुणरस

करुणरस द्रवीभूत हृदय का वह सरस-प्रवाह है, जिससे सहृदयता क्यारी सिञ्चित, मानवता फुलवारी विकसित और लोकहित का हरा भरा उद्यान सुसज्जित होता है। उसमें दयालुता प्रतिफलित दृष्टिगत होती है, और भावुकता-विभूति-भरित। इसी लिये भावुक-प्रवर-भवभूति की भावमयी लेखनी यह लिख जाती है—

एकोरसः करुण एव निमित्त भेदाद्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥
आवर्त्तबुद्बुदतरंग मयान् विकारान्।
अम्भो यथा सलिलमेवहि तत् समस्तम्॥

एक करुणरस ही निमित्त भेद से शृंगारादि रसों के रूप में पृथक् पृथक् प्रतीत होता है। शृंगारादि रस करुणरस के ही विवर्त्त हैं, जैसे भँवर, बुलबुले और तरंग जल के ही विकार हैं। वास्तव में ए सब जल ही हैं, केवल नाम मात्र की भिन्नता है। ऐसा ही सम्वंध करुणरस और शृंगारादि रसों का है।

संभव है यह विचार सर्व-सम्मत न हो, उक्त उक्ति में अत्युक्ति दिखलाई पड़े, किन्तु करुणरस की सत्ता की व्यापकता और महत्ता निर्विवाद है। रसों में शृंगाररस और वीररस को प्रधानता दी गई है। शृंगाररस को रसराज कहा जाता

है। उसके दो अंश हैं, संयोग शृंगार और वियोग शृंगार अथवा विप्रलम्भ शृंगार। वियोग शृंगार में रति की ही प्रधानता है, अतएव प्राधान्य उसी को दिया गया है। दूसरी बात यह कि आचार्य्य भरत का यह कथन है—

"यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृंगारेणोमपीयते (उपयुज्यतेच)"।

"लोक में जो कुछ मेध्य, उज्वल और दर्शनीय है, उन सब का वर्णन शृंगाररस के अन्तर्गत है"।

श्रीमान् विद्या वाचस्पति पण्डित शालिग्राम शास्त्री इसकी यह व्याख्या करते हैं—

"छओं ऋतुओं का वर्णन, सूर्य्य और चन्द्रमा का वर्णन, उदय और अस्त, जलविहार, वन-विहार, प्रभात, रात्रि-क्रीड़ा, चन्दनादि लेपन, भूषण धारण तथा और जो कुछ स्वच्छ, उज्वल वस्तु हैं, उन सब का वर्णन शृंगार रस में होता है"।

ऐसी अवस्था में शृंगार रस की रसराजता अप्रकट नहीं, परंतु साथ ही यह भी कहा गया है—

'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टि मश्नुते'।

'विना वियोग के सम्भोग शृंगार परिपुष्ट नहीं हो पाता'।

'यत्रतुरतिः प्रकृष्टा नाभीष्ट मुपैतिविप्रलम्भोसौ'।

'जहाँ अनुराग तो अति उत्कट है, परन्तु प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलम्भ कहते हैं'।

'स च पूर्वराग मान प्रवास करुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्'।

'वह विप्रलम्भ १—पूर्वराग २—मान ३—प्रवास और ४—करुण इन भेदों से चार प्रकार का होता है'।

इन पंक्तियों के पढ़ने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार रस पर करुण रस का कितना अधिकार है और वह

उसमें कितना व्याप्त है। यह कहना कि बिना विप्रलम्भ के संभोग की पुष्टि नहीं होती, यथार्थ है और अक्षरशः सत्य है। प्रज्ञा-चक्षु शृंगार साहित्य के प्रधान आचार्य्य श्रीयुत् सूरदासजी की लेखनी ने शृंगार रस लिखने में जो कमाल दिखलाया है, जो रस की सरिता वहाई है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। किन्तु संभोग शृंगार से विप्रलम्भ शृंगार लिखने में ही उनकी प्रतिभा ने अपनी हृदय-ग्राहिणी-शक्ति का विशेष परिचय दिया है। उद्धव सन्देश संबंधिनी कवितायें, श्रीमती राधिका और गोपबालाओं के कथनोपकथन से सम्पर्क रखनेवाली मार्मिक रचनायें, कितनी प्रभावमयी और सरस हैं, कितनी भावुकतामयी और मर्म्मस्पर्शिनी हैं। उनमें कितनी मिठास, कितना रस, कैसी अलौकिक व्यंजना और कैसा सुधास्रवण है, इसको सहृदय पाठक ही समझ सकता है। वास्तव बात यह है कि सूरसागर के अनूठे रत्न इन्हीं पंक्तियों में भरे पड़े हैं। नवरस सिद्ध महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी के कोटिशः जन-पूजित रामचरितमानस में जहाँ जहाँ उनकी हृत्तंत्री के तार विप्रलम्भ कर से झङ्कृत हुए हैं, वहाँ वहाँ की अवधी भाषा का हृदय-द्रावक राग कितना रस-वर्षणकारी और विमुग्ध-कर है, कितना रोचक, तल्लीनतामय और भावुकजन विमोहक है, उसको बतलाने में जड़ लेखनी असमर्थ है। रामचरितमानस के वे अंश जो अन्तस्तल में रस की धारा बहा देते हैं, जिनमें उच्च कोटि का कवि-कर्म्म पाया जाता है, जिनकी व्यंजना में भाव-व्यंजन की पराकाष्ठा होती है, उसके विप्रलम्भ शृंगार सम्बंधी अंश भी वैसे ही हैं। मलिक मुहम्मद जायसी का 'पद्मावत' भी हिन्दी-साहित्य का एक उल्लेखनीय ग्रंथ है, उसमें भी पद्मावती का पूर्वानुराग और नागमती का विरह-वर्णन ही

अधिकतर हृदयग्राही और मर्म्मस्पर्शी है। प्रज्ञाचक्षु सूरदास और महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जैसे महाकवि हिन्दी-संसार में अब तक उत्पन्न नहीं हुए। इन महानुभावों की लेखनी में अलौकिक और असाधारण क्षमता थी। इन लोगों की लेखन-कला से विप्रलम्भ शृंगार को जो गौरव प्राप्त हुआ है, उससे सिद्ध है कि शृंगार रस पर विप्रलम्भ शृंगार का कितना अधिकार है। शृंगार रस के वाद वीर रस को ही प्रधानता दी जाती है, किन्तु इस रस में भी करुण रस की विभूतियाँ दृष्टिगत होती हैं। वीर रस की इतिश्री युद्ध-वीर और धर्म-वीर में ही नहीं हो जाती, उसके अंग दया-वीर और दान-वीर भी हैं, जो अधिकतर करुणार्द्र-हृदय द्वारा संचालित होते रहते हैं। श्मशान का कारुणिक-दृश्य निर्वेद का ही सृजन नहीं करता है, भयानक और वीभत्स रस का प्रभाव भी हृदय पर डालता है। वसुंधरा के पाप-भार से पीड़ित होने पर किसी विभूतिमत् सत्व का धरा में अवतीर्ण होना क्या करुण रस का आह्वान नहीं है? क्या ग्राह से गज-मोक्ष सम्बंधिनी क्रिया में कारुणिकता नहीं पाई जाती और क्या यह अद्भुत रस के कार्य्य-कलाप का निदर्शन नहीं है? कान्त-कवितावली के आचार्य्य जयदेवजी ने जिन बुद्धदेव को 'कारुण्यमातन्वते' वाक्य द्वारा स्मरण किया है, उनका वसुंधरा की एक तृतीयांश जनता के हृदय पर केवल करुणा के बल से अधिकार कर लेना क्या अतीव-अद्भुत-कार्य्य नहीं है? एक बहुत बड़ा सम्राट् भी आज तक इतनी बड़ी जनता पर अस्त्र शस्त्र अथवा पराक्रम बल से अधिकार नहीं कर सका। अतएव बुद्धदेव के कारुणिक-कार्य्य-कलाप में अद्भुत रस का कैसा समावेश है, इसको प्रत्येक सहृदय व्यक्ति समझ सकता है। रही रौद्र रस की बात, उसके विषय में यह कहना है कि क्या उपहासमूलक

हास्य उस रौद्र-भाव का सृजनकर्त्ता नहीं है, जिसकी संचालिका कारुणिक खिन्नता होती है। आततताइयों, अत्याचारियों, देश जाति के द्रोहियों, लोकहित-कंटकों की विपन्न दशा क्या मानवता के अनुरागियों, संसार के शान्ति सुख के कामुकों और लोकोपकार निरतों को हर्षित नहीं करती, और क्या उनके उत्फुल्ल आननों पर स्मित की रेखा नहीं खींचती, और क्या यह करुण रस का विकास हास्य-रस में नहीं है? अब तक जो कुछ कहा गया उससे भवभूति प्रतिभा प्रसूत श्लोक की वास्तवता मान्य और करुण रस की महनीय महत्ता पूर्णतया स्वीकृत हो जाती है।

यह विचार-परम्परा भी करुण रस को विशेष गौरवित बनाती है, कि कविता का आरंभ पहले पहल इसी रस के द्वारा हुआ है। कवि-कुल-गुरु कालिदास लिखते हैं—

'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत तस्य शोकः।,

निषाद के वाण से विद्ध पक्षी के दर्शन से जिसका (महर्षि वाल्मीक का) शोक श्लोक में परिणत हो गया। वह श्लोक यह है–

मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समा।
यत्क्रौंच मिथुनादेक मबधीः काम मोहितम्॥

हे निषाद तू किसी काल में प्रतिष्ठा न पा सकेगा। तू ने व्यर्थ काम मोहित दो क्रौंचों में से एक को मार डाला।

वाल्मीक रामायण में लिखा है कि यही पहला आदिम पद्य है, जिसके आधार से उसकी रचना हुई। वाल्मीक रामायण ही संस्कृत का पहला पद्य-ग्रंथ है। और उसका आधार करुण रस का उक्त श्लोक ही है। अतएव यह माना जाता है है कि कविता का आरंभ करुण रस से ही हुआ है। आश्चर्य यह है कि फ़ारसी के एक पद्य से भी इस विचार का प्रतिपादन होता है। वह पद्य यह है—

आंकि अव्वल शेरगुफ़्त आदम शफ़ीअल्ला बुवद ।
तबा मौजूं हुज्जतेफ़रज़ंदिये आदम बुवद ॥

जिसने पहले पहल शेर कहा वह परमेश्वर का प्यारा आदम था। इसलिये 'आदमी, का मौजूं तबा (कवि) होना 'आदम, की संतान होने की दलील है।

बाबा आदम के एक लड़के का नाम 'हाबील' था और दूसरे का नाम' क़ाबील, दूसरे ने पहले को जान से मार डाला। इस दुर्घटना पर बाबा आदम के शोक संतप्त हृदय से अनायास जो उद्गार निकला, वही करुण वाक्य कविता का आदि प्रवर्त्तक बना। उक्त शेर का यही मर्म्म है। हमारे मनु ही मुसलमान और ईसाइयों के 'आदम, हैं। 'मनुज' और 'आदमी' पर्य्यायवाची शब्द हैं, जैसे हम लोग मनु भगवान को आदिम पुरुष मानते हैं, वैसे ही वे लोग 'बाबा आदम' को आदिम पुरुष कहते हैं। आदिम शब्द और आदम शब्द में नाम मात्र का अन्तर है। फ़ारसी ईरान की भाषा है। ईरानी एरियन वंश के ही हैं। ईरानियों के पवित्र ग्रंथ जिन्दावस्ता में संस्कृत शब्द भरे पड़े हैं। इसलिये इस प्रकार का विचार-साम्य असंभव नहीं है। भाषा के साथ भाव-ग्रहण अस्वाभाविक व्यापार नहीं है।

पद्य-प्रणाली का जो जनक है, वाल्मीक-रामायण जैसे लोकोत्तर महाकाव्य की रचना का जो आधार है, उस करुण रस की महत्ता की इयत्ता अविदित नहीं। तो भी संस्कृत श्लोक के भाव का प्रतिपादन एक अन्यदेशीय प्राचीन भाषा द्वारा हो जाने से इस विचार की पुष्टि पूर्णतया हो जाती है कि करुण रस द्वारा ही पहले पहल कविता देवी का आविर्भाव मानव हृदय में हुआ है। और यह एक सत्य का अद्भुत विकास है।

करुण रस की विशेषताओं और उसकी मर्म्मस्पर्शिता की

ओर मेरा चित्त सदा आकर्षित रहा, इसका ही परिणाम 'प्रिय-प्रवास' का अविर्भाव है। 'प्रिय-प्रवास' की रचना के उपरान्त मेरी इच्छा 'वैदेही-वनवास' प्रणयन की हुई। उसकी भूमिका में मैंने यह बात लिख भी दी थी। परन्तु चौबीस वर्ष तक मैं हिन्दी-देवी की यह सेवा न कर सका। कामना-कलिका इतने दिनों के बाद ही विकसित हुई। कारण यह था कि उन दिनों कुछ ऐसे विचार सामने आये, जिनसे मेरी प्रवृत्ति दूसरे विषयों में ही लग गईं। उन दिनों आज़मगढ़ में मुशायरों की धूम थी। बन्दोबस्त वहाँ हो रहा था। अहलकारों की भरमार थी। उनका अधिकांश उर्दू-प्रेमी था। प्रायः हिन्दी भाषा पर आवाज़ा कसा जाता, उसकी खिल्ली उड़ाई जाती, कहा जाता हिन्दी-वालों को बोलचाल की फड़कती भाषा लिखना ही नहीं आता। वे मुहावरे लिख ही नहीं सकते। इन बातों से मेरा हृदय चोट खाता था, कभी कभी मैं तिलमिला उठता था। उर्दू-संसार के एक प्रतिष्ठित मौलवी साहब जो मेरे मित्र थे और आज़मगढ़ के ही रहने वाले थे, जब मिलते, इस विषय में हिन्दी की कुत्सा करते, व्यंग बोलते। अतएव मेरी सहिष्णुता की भी हद हो गई। मैंने बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में हिन्दी-कविता करने के लिये कमर कसी। इसमें पाँच-सात बरस लग गये और 'बोल-चाल' एवं 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' नामक ग्रन्थों की रचना मैंने की। जब इधर से छुट्टी हुई, मेरा जी फिर 'वैदेही-वनवास' की ओर गया। परन्तु इस समय एक दूसरी धुन सिर पर सवार हो गई। इन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालय में पहुँच गया था। शिक्षा के समय योग्य विद्यार्थी-समुदाय' ईश्वर अथच संसार-सम्बन्धी अनेक विषय उपस्थित करता रहता था। उनमें कितने श्रद्धालु होते, कितने

सामयिकता के रंग में रँगे शास्त्रीय और पौराणिक विषयों पर तरह तरह के तर्क वितर्क करते। मैं कक्षा में तो यथाशक्ति जो उत्तर उचित समझता दे देता। परन्तु इस संघर्ष से मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इन विषयों पर कोई पद्य ग्रंथ क्यों न लिख दिया जाये। निदान इस विचार को मैंने कार्य्य में परिणत किया और सामयिकता पर दृष्टि रखकर मैंने एक विशाल ग्रंथ लिखा। परन्तु इस ग्रन्थ के लिखने में एक युग से भी अधिक समय लग गया। मैंने इस ग्रन्थ का नाम 'पारिजात' रखा। इसके उपरान्त 'वैदेही-वनवास' की ओर फिर दृष्टि फिरी। परमात्मा के अनुग्रह से इस कार्य्य की भी पूर्त्ति हुई। आज 'वैदेही-वनवास' लिखा जाकर सहृदय विद्वज्जनों और हिन्दी-संसार के सामने उपस्थित है। महाराज रामचन्द्र मर्य्यादा पुरुषोत्तम, लोकोत्तर-चरित और आदर्श नरेन्द्र अथच महिपाल हैं, श्रीमती जनक-नन्दिनी सती-शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्य्य-बाला हैं। इनका आदर्श, आर्य्य-संस्कृति का सर्वस्व है, मानवता की महनीय विभूति है, और है स्वर्गीय-सम्पत्ति-सम्पन्न। इसलिये इस ग्रंथ में इसी रूप में इसका निरूपण हुआ है। सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रंथ की रचना हुई है, अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धिसंगत बनाने की चेष्टा की गई है। इसमें असंभव घटनाओं और व्यापारों का वर्णन नहीं मिलेगा। मनुष्य अल्पज्ञ है, उसकी बुद्धि और प्रतिभा ही क्या? उसका विवेक ही क्या? उसकी सूझ ही कितनी, फिर मुझ ऐसे विद्या-विहीन और अल्प-मति की। अतएव प्रार्थना है कि मेरी भ्रान्तियों और दोषों पर दृष्टिपात न कर विद्वज्जन अथच महज्जन गुण-ग्रहण की ही चेष्टा करेंगे। यदि कोई उचित सम्मति दी जायेगी तो वह शिरसाधार्य्य होगी।

कवि-कर्म्म

कवि कर्म्म कठिन है, उसमें पग-पग पर जटिलताओं का सामना करना पड़ता है। पहले तो छन्द की गति स्वच्छन्द बनने नहीं देती, दूसरे मात्राओं और वर्णों की समस्या भी दुरूहता-रहित नहीं होती। यदि कोमल-पद-विन्यास की कामना चिन्तित करती रहती है, तो प्रसाद-गुण की विभूति भी अल्प वांछित नहीं होती। अनुप्रास का कामुक कौन नहीं, अन्त्यानुप्रास के झमेले तो कितने शब्दों का अंग भंग तक कर देते हैं या उनके पीछे एक पूंछ लगा देते हैं। सुन्दर और उपयुक्त शब्द-योजना कविता की विशेष विभूति है, इसके लिए कवि को अधिक सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि कविता को वास्तविक कविता वही बनाती है। कभी कभी तो एक उपयुक्त और सुन्दर शब्द के लिये कविता का प्रवाह घंटों रुक जाता है। फ़ारसी का एक शायर कहता है—

बराय पाकिये लफ़्ज़े शबे बरोज़ आरन्द।
कि मुर्ग़ माहीओ बाशन्द खुफ़्ता ऊ बेदार॥

'एक सुन्दर शब्द को बैठाने की खोज में कवि उस रात को जागकर दिन में परिणत कर देता है, जिसमें पक्षी से मछली तक बेख़बर पड़े सोते रहते हैं'—

इस कथन में बड़ी मार्मिकता है। उपयुक्त और सुन्दर शब्द कविता के भावों की व्यंजना के लिये बहुत आवश्यक होते हैं। एक उपयुक्त शब्द कविता को सजीव कर देता है और अनुपयुक्त शब्द मयंक का कलंक बन जाता है। शब्द का कविता में वास्तविक रूप में आना ही उत्तम समझा जाता है। उसका तोड़ना-मरोड़ना ठीक नहीं माना जाता। यह दोष कहा गया है,

किन्तु देखा जाता है कि इस दोष से बड़े बड़े कवि भी नहीं बच पाते। इसीलिये यह कहा जाता है, 'निरंकुशाः कवयः' कौन कवि निरंकुश कहलाना चाहेगा, परन्तु कवि-कर्म्म की दुरूहता ही उसको ऐसा कहलाने के लिये वाध्य करती है। आजकल हिन्दी-संसार में निरंकुशता का राज्य है। ब्रज-भाषा की कविता में शब्द-विन्यास की स्वच्छन्दता देखकर खड़ी बोली के सत्कवियों ने इस विषय में वड़ी सतर्कता ग्रहण की थी, किन्तु आजकल उसका प्रायः अभाव देखा जाता है। इसका कारण कवि-कर्म्म की दुरूहता अवश्य है। किन्तु कठिन अवसरों और जटिल स्थलों पर ही तो सावधानता और कार्य्य-दक्षता की आवश्यकता होती है। हीरा जी तोड़ परिश्रम करके ही खनि से निकाला जाता है। और चोटी का पसीना एड़ी तक पहुँचा कर ही ऊसरों में भी सुस्वादु तोय पाया जा सकता है।

खड़ी बोली की विशेषतायें

इस समय खड़ी बोली की कविता में शब्द-विन्यास का जो स्वातंत्र्य फैला हुआ है, उसके विषय में विशेष लिखने के लिये मेरे पास स्थान का संकोच है। मैं केवल 'वैदेही-वनवास' के प्रयोगों पर ही अर्थात् उसके कुछ शब्द-विन्यास की प्रणाली पर ही प्रकाश डालना चाहता हूँ। इसलिये कि हिन्दी-भाषा के गण्यमान्य विद्वानों की उचित सम्मति सुनने का अवसर मुझको मिल सके। मैं यह जानता हूँ कि कितने प्रयोग वाद-ग्रस्त हैं, मुझे यह भी ज्ञान है कि मत-भिन्नता स्वाभाविक है, किन्तु यह भी विदित है कि 'वादे' 'वादे' जायते तत्व बोधः।

हिन्दी-भाषा की कुछ विशेषतायें हैं, वह तद्भव शब्दों से बनी है, अतएव सरल और सीधी है। अधिक संयुक्ताक्षरों का

प्रयोग उसमें वांछनीय नहीं, वह उनको भी अपने ढंग में ढालती रहती है। वह राष्ट्र-भाषा-पद पर आरूढ़ होने की अधिकारिणी है, इसलिये ठेठ प्रान्तीय-शब्दों का अथवा ग्राम्य-शब्दों का प्रयोग उसमें अच्छा नहीं समझा जाता। व्रज-भाषा अथवा अवधी शब्दों का व्यवहार गद्य में कदापि नहीं किया जाता। परन्तु पद्य में कवि-कर्म्म की दुरूहताओं के कारण यदि कभी कोई उपयुक्त शब्द खड़ी बोलचाल की कविता में ग्रहण कर लिया जाता है, तो वह उतना आपत्तिजनक नहीं माना जाता, किन्तु क्रियायें उनकी कभी पसंद नहीं की जातीं। कुछ सम्मति उपयुक्त शब्द-ग्रहण की भी विरोधिनी है, परन्तु यह अविवेक है। यदि अत्यन्त प्रचलित विदेशी शब्द ग्राह्य हैं, तो उपयुक्त सुन्दर व्रज-भाषा और अवधी के शब्द अग्राह्य क्यों? वह भी पद्य में, और माधुर्य्य उत्पादन के लिये। बहुत से प्रचलित विदेशी शब्द हिन्दी-भाषा के अंग बन गये हैं, इसलिये उसमें उनका प्रयोग निस्संकोच होता है। वह अवसर पर अब भी प्रत्येक विदेशीय भाषा के उन शब्दों को ग्रहण करती रहती है, जिन्हें उपयोगी और आवश्यक समझती है, इसी प्रकार प्रान्त-विशेष के शब्दों को भी। किन्तु व्यापक संस्कृत-शब्दावली ही उसका सर्वस्व है और इसीसे उसका समुन्नति-पथ भी विस्तृत होता जा रहा है।

हिन्दी-भाषा की विशेषताओं का ध्यान रख कर ही उसके गद्य पद्य का निर्माण होना चाहिये। जब तद्भव शब्द ही उसके जनक हैं, तो उसमें उसका आधिक्य स्वाभाविक है। अतएव जब तक हम आँख, कान, नाक, मुँह लिख सकते हैं, तब तक हमें अक्ष, कर्ण, नासिका, और मुख लिखने का अनुरक्त न होना चाहिये, विशेषकर मुहावरों में। मुहावरे तद्भव शब्दों से ही बने हैं। अतएव उनमें परिवर्तन करना भाषा पर अत्याचार

करना होगा। आँख चुराना, कान भरना, नाक फुलाना और मुँह चिढ़ाना के स्थानपर अक्ष चुराना, कर्ण भरना, नासिका फुलाना और मुख चिढ़ाना हम लिख सकते हैं, किन्तु यह भाषा-भिज्ञता की न्यूनता होगी। कुछ लोगों का विचार है कि खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों में शुद्ध संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग होना चाहिये, जिसमें उसमें नियम-वद्धता रहे। वे कहते हैं, चित के स्थान पर चित्त, सिर के स्थान पर शिर और दुख के स्थान पर दुःख ही लिखा जाना चाहिये। किन्तु वे नहीं समझते कि इससे तो हिन्दी के मूल पर ही कुठाराघात होगा। तद्भव शब्द जो उसके आधार हैं निकल जावेंगे और संस्कृत-शब्द ही अर्थात् तत्सम शब्द ही उसमें भर जायेंगे, जो दुरूहता और असुविधा के जनक होंगे और मुहावरों को मटियामेट कर देंगे। तद्भव शब्दों को तो सुरक्षित रखना ही पड़ेगा, हाँ अर्द्ध तत्सम शब्दों के स्थान पर अवश्य तत्सम शब्द ही रखना समुचित होगा। तद्भव शब्द चिरकालिक परिवर्त्तन के परिणाम और बोलचाल के शब्दों के आधार हैं, इसलिये उनका त्याग तो हो ही नहीं सकता। 'कर्म्म' शब्द बोलचाचाल के प्रवाह में पड़ कर पहले कम्म बना (पंजाब में अब भी 'कम्म' बोला जाता है)। यहीं 'कम्म' इस प्रान्त में अब काम बोला जाता है। उसको हटाकर उसकी जगह पर फिर कर्म्म को स्थान देना वास्तवता का निराकरण करना होगा, हाँ गद्य पद्य लिखने में यथावसर आवश्यकतानुसार दोनों का व्यवहार किया जा सकता है, यही प्रणाली प्रचलित भी है। यही बात सब तद्भव शब्दों के लिये कही जा सकती है। रही अर्द्ध तत्सम की बात। प्रायः ऐसे शब्द व्रज-भाषा और अवधी-भाषा के कवियों के गढ़े हुये हैं, वे बोलचाल में कभी नहीं आये, कविता ही में उनके व्यवहार

उन भाषाओं के नियमानुसार उस रूपमें होते आये हैं, अतएव उनको तत्सम रूप में व्यवहार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। कर्त्तार, हृदय, निर्दय का प्रयोग आज भी सर्वसाधारण में नहीं है, पहले भी नहीं था, परन्तु उन भाषाओं की कविताओं में इनका प्रयोग करतार, हिरदय, निरदय के रूप में पाया जाता है, इसलिये इनका प्रयोग खड़ी बोली की कविता में शुद्ध रूप में होना ही चाहिये, ऐसा ही होता भी है।

संयुक्ताक्षरों की दुरूहता निवारण और उनकी लिपि-प्रणाली को सुगम बनाने के लिये धर्म्म, मर्म्म, कर्म्म को धर्म, मर्म, कर्म लिखा जाने लगा है। इसी प्रकार गर्त्त, आवर्त्त, कैवर्त्त आदि को गर्त, आवर्त, कैवर्त। बात यह है कि जब वर्ण के द्वित्व का उपयोग नहीं होता, एक वर्ण के समान ही वह काम देता है तब उसको दो क्यों लिखा जाये। उत्पत्ति में 'त्ति' के द्वित्व का उच्चारण होता है, इसी प्रकार सम्मति में म्म का, इसलिये उनमें उनका उस रूप में लिखा जाना आवश्यक है, अन्यथा शब्द का उच्चारण ही ठीक न होगा। किन्तु उक्त शब्दों में यह बात नहीं है, अतएव उनमें द्वित्व की आवश्यकता नहीं ज्ञात होती। इसलिये प्रायः हिन्दी में अब उनको उस रूपमें लिखा जाने भी लगा है। संस्कृत के नियमानुसार भी ऐसा लिखना स-दोष नहीं है। मुनिवर पाणिनि का यह सूत्र इसका प्रमाण है। "अचोरहाभ्यां द्वे" इसी प्रकार पंचम वर्ण के स्थान पर अनुस्वार से काम लेना भी आरंभ हो गया है। कलङ्क, कञ्चन, मण्डन, बन्धन और दम्पति को प्रायः लोग कलंक, कंचन, मंडन, बंधन और दंपति लिखते हैं। बहुत लोग इस प्रणाली को पसंद नहीं करते, संस्कृत रूप में ही उक्त शब्दों का लिखना अच्छा समझते हैं।

यह अपनी-अपनी रुचि और सुविधा की बात है। कथन तो यह है कि उक्त द्वित्व वर्ण और पंचम वर्ण के प्रयोग में जो परिवर्त्तन हो रहा है वह आपत्ति-मूलक नहीं माना जा रहा है। इसलिये जो चाहे जिस रूप में उन शब्दों को लिख सकता है। खड़ी बोली के गद्य पद्य दोनों में यह प्रणाली गृहीत है, अधिकतर पद्य में। श्रुतबोधकार लिखते हैं—

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गं संमिश्रं।
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन॥

संयुक्त अक्षर के पहले का दीर्घ, सानुस्वार, विसर्ग संयुक्त अक्षर गुरु माना जायेगा, विकल्प से पादान्तस्थ अक्षर भी गुरु कहलाता है।

इस नियम से संयुक्त अक्षर के पहले का अक्षर सदा गुरु अथवा दीर्घ माना जावेगा। प्रश्न यह है कि क्या हिन्दी में भी यह व्यवस्था सर्वथा स्वीकृत होगी? हिन्दी में यह विषय वाद-ग्रस्त है। रामप्रसाद को रामप्प्रसाद नहीं कहा जाता, मुख क्रोध से लाल हो गया को मुखक् क्रोध से लाल हो गया नहीं पढ़ा जायगा। पवित्र प्रयाग को न तो पवित्रप्प्रयाग कहा जायगा, न कार्य्य क्षेत्र को कार्य्यक्क्षेत्र पढ़ा जायगा। संस्कृत का विद्वान् भले ही ऐसा कह ले अथवा पढ़ ले, परन्तु सर्वसाधारण अथवा हिन्दी या अन्य भाषा का विद्वान् न तो ऐसा कह सकेगा, न पढ़ सकेगा। वह तो वही कहेगा और पढ़ेगा, जो लिखित अक्षरों के आधार से पढ़ा जा सकता है या कहा जा सकता है। संस्कृत का विद्वान् भी न तो गोविन्दप्रसाद को गोविन्दप्प्रसाद कहेगा न शिवप्रसाद को शिवप्प्रसाद, क्योंकि सर्वसाधारण के उच्चारण का न तो वह अपलाप कर सकता है, न बोलचाल की भाषा से अनभिज्ञ बन कर उपहास-भाजन बन सकता है।

अवधी और व्रज-भाषा में इस प्रकार का प्रयोग मिलता ही नहीं, क्योंकि वे बोलचाल के रंग में ढली हुई हैं। 'प्रभु तुम कहाँ न प्रभुता करी, के 'न' को दीर्घ बना देंगे तो छन्दो-भंग हो जायेगा। हिन्दी-भाषा की प्रकृति पर यदि विचार करेंगे और लिपि-प्रणाली की यदि रक्षा करेंगे, यदि यह चाहेंगे कि जो लिखा है वही पढ़ा जावे, थोड़ी विद्या-बुद्धि का मनुष्य भी जिस वाक्य को जिस प्रकार पढ़ता है, उसका उच्चारण उसी प्रकार होता रहे तो संयुक्त वर्णों के पहले के अक्षर को हिन्दी में दीर्घ पढ़ने की प्रणाली गृहीत नहीं हो सकती, उसमें एक प्रकार की दुरूहता है। अधिकांश हिन्दी के विद्वानों की यही सम्मति है। परन्तु हिन्दी के कुछ विद्वान् उक्त प्रणाली के पक्षपाती हैं और अपनी रचनाओं में उसकी रक्षा पूर्णतया करते हैं। संयुक्ताक्षर के पहले का अक्षर स्वभावतः दीर्घ हो जाता है। जैसे—गल्प, अल्प, उत्तर, विप्र, देवस्थान, शुभ्र, सुन्दर, गर्व पर्व, किञ्चित, महत्तम, मुद्गर आदि। ऐसे शब्दों के विषय में कोई तर्क-वितर्क नहीं है, गद्य पद्य दोनों में इनका प्रयोग सुविधा के साथ हो सकता है और होता भी है। परन्तु कुछ समस्त शब्दों में ही झगड़ा पड़ता है और वाद उन्हीं के विषय में है। ऐसे शब्द देवव्रत, धर्म्मच्युति, गर्वप्रहारी, सुकृति-स्वरूपा आदि हैं। संस्कृत में उनका उच्चारण देवव्व्रत, धर्म्म-च्च्युति, गर्वप्प्रहारी और सुकृति-स्स्वरूपा होगा। संस्कृत के पण्डित भाषा में भी इनका उच्चारण इसी प्रकार करेंगे। परन्तु हिन्दी-भाषा-भिज्ञ इनका उच्चारण उसी रूप में करेंगे जिस रूप में वे लिखे हुए हैं। अब तक यह विषय वादग्रस्त है। गद्य में तो संयुक्त शब्दों के पहले के अक्षर को दीर्घ बनाने में कोई अन्तर न पड़ेगा, किन्तु पद्य में विशेष कर मात्रिक-छन्दों में उसके दीर्घ उच्चारण करने में छन्दो-भंग होगा, यदि पद्य-

कर्त्ता ने उसको दीर्घ मान कर ही उसका प्रयोग नहीं किया है। परन्तु केवल भाषा का ज्ञान रखनेवाला ऐसा न कर सकेगा; हाँ, संस्कृतज्ञ ऐसा कर सकेगा। किन्तु हिन्दी कविता करनेवालों में संस्कृतज्ञ इने गिने ही हैं। इसीलिये इस प्रकार के प्रयोग के विरोधी ही अधिक हैं, और अधिक सम्मति उन्हीं के पक्ष में है। मेरा विचार यह है कि विकल्प से यदि इस प्रयोग को मान लिया जावे तो वह उपयोगी होगा। जहाँ छन्दोगति बिगड़ती हो वहाँ समास न किया जावे, और जहाँ छन्दोगति को सहायता मिलती हो वहाँ समास कर दिया जावे। प्रायः ऐसा ही किया भी जाता है। परन्तु समास न करनेवालों की ही संख्या अधिक है, क्योंकि सुविधा इसी में है।

ब्रज-भाषा और अवधी का यह नियम है—

'लघु गुरु गुरु लघु होत है निज इच्छा अनुसार।

गोस्वामी तुलसीदास जी से समर्थ महाकवि भी लिखते हैं—

बन्दों गुरु पद पदुम परागा। सरस सुवास सुरुचि अनुरागा॥
अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥

पराग को परागा, अनुराग को अनुरागा, चारु को चारू और परिवार को परिवारू कर दिया गया है।

प्रज्ञाचक्षु सूरदासजी लिखते हैं—

जसुदा हरि पालने झुलावै।
दुलरावै हलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निँदरिया काहे न आनि सोआवै॥

जसोदा को जसुदा, जोई के 'जो' को सोई के 'सो' को और मेरे के 'मे' को लघु कर दिया गया है। गोस्वामीजी के पद्य में लघु को दीर्घ बनाया गया है।

उर्दू में तो शब्दों के तोड़ने-मरोड़ने की परवा ही नहीं की जाती। एक शेर को देखिये—

कोई मेरे दिल से पूछे तेरे तीर नीमकश को।
यह ख़लिश कहाँ से होती जो जिगर के पार होता॥

जिन शब्दों के नीचे लकीर खिंची हुई हैं वे बेतरह तोड़े-मरोड़े गये हैं। लघु को गुरु बनाने तक तो ठिकाना था, पर उक्त शेर में अक्षर तक उड़ गये हैं, शेर का असली रूप यह होगा।

कइ मेर दिल स पूछे तर तीर नीमकश को।
य ख़लिश कहाँ स होती ज जिगर क पार होता।

खड़ी बोली की कविता में न तो लघु को दीर्घ बनाया जाता है और न दीर्घ को लघु। उर्दू की कविता के समान उसमें शब्दों का संहार भी नहीं होता। परन्तु कुछ परिवर्त्तन ऐसे हैं जिनको उसने स्वीकार कर लिया है। 'अमृत' शब्द तीन मात्रा का है, परन्तु कभी कभी उसको लिखा जाता है 'अमृत 'ही, परन्तु पढ़ा जाता है 'अम्मृत'। बोलचाल में उसका उच्चारण इसी रूप में होता है। बहुत लोगों का यह विचार है कि 'मृ' संयुक्त वर्ण है इसलिये उसके आदि के अक्षर ('अ') का गुरु होना स्वाभाविक है। इसलिये दो 'म' अमृत में नहीं लिखा जाता। परन्तु 'ऋ' युक्त वर्ण संयुक्त वर्ण नहीं माना जाता, इसलिये यह विचार ठीक नहीं है। परन्तु उच्चारण लोगों को भ्रम में डाल देता है। इसलिये उसका प्रयोग प्रायः अमृत के रूप में ही होता है। कभी कभी छन्दो-गति की रक्षा के लिये 'अमृत' भी लिखा जाता है। संस्कृत का हलन्त वर्ण हिन्दी में विशेष कर कविता में प्रायः हलन्त नहीं लिखा दिखलाता, उसको सस्वर ही लिखते हैं। "विद्वान" को इसी रूप में लिखेंगे, इसके 'न' को हलन्त न करेंगे।

इसमें सुविधा समझी जाती है। संस्कृत में वर्ण-वृत्त का प्रचार है, उसमें हलन्त वर्ण को गणना के समय वर्ण माना ही नहीं जाता।

'रामम् रामानुजम् सीताम् भरतम् भरतानुजम्।
सुग्रीवम् बालि सूनुम् च प्रणमामि पुनः पुनः॥

अनुष्टुप छन्द का एक एक चरण आठ वर्ण का होता है। यदि इस पद्य में वर्णों की गणना करके देखें तो ज्ञात हो जायगा कि सब हलन्त वर्ण गणना में नहीं आते। परन्तु मात्रिक छन्दों में वह लघु माना ही जावेगा, इसलिये उसे हलन्त न करने की प्रणाली चल पड़ी है। परन्तु यह प्रणाली भी वाद-ग्रस्त है। हिन्दी-लेखक प्रायशः पद्य में हलन्त न लिखने के पक्षपाती हैं, परन्तु संस्कृत के विद्वान् उसके लिखे जाने के पक्ष में हैं। व्रज-भाषा और अवधी में भी हलन्त वर्ण को सस्वर कर देते हैं, जैसे— मर्म को मरम, भ्रम को भरम, गर्व को गरब, पर्व को परब, आदि। हिन्दी में चंचल लड़की, दिव्य ज्योति, स्वच्छ सड़क, सरस बातें, सुन्दर कली, कहने और लिखने की प्रणाली है। कुछ लोग समझते हैं कि इस प्रकार लिखना अशुद्ध है। चंचला लड़की, दिव्या ज्योति, स्वच्छा सड़क, सरसा बातें और सुन्दरी कली लिखना शुद्ध होगा। किन्तु यह अज्ञान है। संस्कृत-नियम से भी प्रथम प्रयोग शुद्ध है। मुनिवर पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र इसका प्रमाण है—

'पुंवत् कर्म्मधारय जातीय देशेषु'

दूसरी बात यह कि संस्कृत के सब नियम यथातथ्य हिन्दी में नहीं माने जाते, उनमें अन्तर होता ही रहता है। आत्मा, पवन, वायु संस्कृत में पुल्लिंग हैं, किन्तु हिन्दी में वे स्त्री-लिंग लिखे जाते हैं। भारतेन्दु जी जैसे हिन्दी भाषा के प्रगल्भ विद्वान् लिखते हैं—

'सन सन लगी सीरी पौन चलन,

सहृदयवर बिहारीलाल कहते हैं—

'तुमहूँ लागी जगत गुरु जगनायक जगवाय,

कविवर वृन्द का यह कथन है—

बिना डुलाये ना मिलै ज्यों पंखा की पौन,

मैं पहले कह आया हूँ कि हिन्दी-भाषा की जो विशेषतायें हैं उन्हें सुरक्षित रखना होगा, वास्तवता यही है अन्यथा उसमें कोई नियम न रह जावेगा। समय परिवर्त्तनशील है, उसके साथ संस्कृति, भाषा, विचार, रहन-सहन, रंग-ढंग, वेश-भूषा आदि सब परिवर्त्तित होते हैं। परन्तु उसकी भी सीमा है और उसके भीतर भी नियम हैं। वैदिक-काल से अब तक भाषा में परिवर्त्तन होते आये हैं। संस्कृत के बाद प्राकृत, प्राकृत के उपरान्त अपभ्रंश; अपभ्रंश से हिन्दी का प्रादुर्भाव हुआ। एक संस्कृत से कितनी प्राकृत भाषायें बनीं और परस्पर उनमें कितना रूपान्तर हुआ यह भी अविदित नहीं है। अन्य भाषाओं को छोड़ दीजिये, हिन्दी को ही गवेषणा-दृष्टि से देखिये तो उसके ही अनेक रूप दृष्टिगत होते हैं। शौरसेनी के अन्यतम रूप अवधी, व्रज-भाषा और खड़ी बोली हैं, किन्तु इन्हीं में कितना विभेद दिखलाता है। 'अवधी' जिसमें गोस्वामीजी का लोक-पूज्य रामचरितमानस सा लोकोत्तर ग्रंथ है, जायसी का मनोहर ग्रन्थ पद्मावत है, आज उतनी आदृत नहीं है। जो व्रज-भाषा अपने ही प्रांत में नहीं, अन्य प्रान्तों में भी सन्मानित थी; पंजाब से बंगाल तक, राजस्थान से मध्य हिन्द तक जिसकी विजय-वैजयन्ती उड़ रही थी, जो प्रज्ञाचक्षु सूरदास की अलौकिक रचना ही से अलंकृत नहीं है, समादरणीय संतों और बड़े बड़े कवियों

अथवा महाकवियों की कृतियों से भी माला-माल है। पाँच सौ वर्ष से भी अधिक जिसकी विजय-दुंदुभी का निनाद होता रहा है, आज वह भी विशाल कविता क्षेत्र से उपेक्षित है, यहाँ तक कि खड़ी बोली कविता में उसके किसी शब्द का आ जाना भी अच्छा नहीं समझा जाता। इन दिनों कविता-क्षेत्र पर खड़ी बोली का साम्राज्य है और उसकी विशेषताओं की ओर इन दिनों सिबकी दृष्टि है। हिन्दी-भाषा के अन्तर्गत व्रज-भाषा, अवधी, बहारी, राजस्थानी, बुन्देलखंडी और मध्य हिन्द की सभी प्रचलित बोलियाँ हैं। किन्तु इस समय प्रधानता खड़ी बोली की है। यथा काल जैसे शौरसेनी और व्रज-भाषा का प्रसार था, वैसा ही आज खड़ी बोली का बोल-बाला है। आज दिन कौन सा प्रान्त है, जहाँ खड़ी बोली का प्रसार और विस्तार नहीं। हिन्दी-भाषा के गद्य रूप में जिसका आधार खड़ी बोली है, भारतवर्ष के किस प्रधान नगर से साप्ताहिक और दैनिक पत्र नहीं निकलते। उसके पद्य-ग्रंथों का आदर भारत व्यापी है इसलिये खड़ी बोली आज दिन मज गई है और उसका रूप परिमार्जित हो गया है। व्रज-भाषा और अवधी आदि कुछ बोलियाँ अब भी समादरणीय हैं, अब भी उनमें सत्कविता करने वाले सज्जन हैं, विशेष कर व्रज-भाषा में। परन्तु उन पर अधिकतर प्रान्तीयता का रंग चढ़ा हुआ है। यदि इस समय भारत-व्यापिनी कोई भाषा है तो खड़ी बोलो ही है। पचास वर्ष में वह जितनी समुन्नत हुई, उतनी उन्नति करते किसी भाषा को नहीं देखा गया। उर्दू के प्रेमी जो कहें, पर वह हिन्दी की रूपान्तर मात्र है और उसीकी गोद में पली है। और इसीलिये कुछ प्रान्तों में समादृत भी है। हिन्दी-भाषा के योग्य एवं गण्यमान्य विबुधों ने खड़ी बोली को जो रूप दिया है और जिस प्रकार उसे सर्व

गुणालंकृत बनाया है वह उल्लेखनीय ही नहीं अभिनन्दनीय भी है। अब भी उसमें देश काल की आवश्यकताओं पर दृष्टि रख कर उचित परिवर्त्तन होते रहते हैं। वास्तव बात यह है कि खड़ी बोली की हिन्दी का स्वरूप इस समय संतोषजनक और सर्वांग पुष्ट है। इधर थोड़े दिनों से कुछ लोगों की उच्छृंखलता बढ़ गई है, मनमानी होने लगी है। मुहावरे भी गढ़े जाने लगे हैं और कुछ मनमाने प्रयोग भी होने लगे हैं, किन्तु इसके कारण अन-भिज्ञता, अपरिपक्वता और प्रान्तीयता हैं। भाषा में ही नहीं भावों में भी कतर-ब्योंत हो रहा है, आसमान के तारे तोड़े जा रहे हैं, स्वतंत्रता के नाम पर मनस्विता का डिंडिम नाद कर कला को विकल बनाया जा रहा है या प्रतिभा उद्यान में नये फूल खिलाये जा रहे हैं। किन्तु ए मानस-उदधि की वे तरंगें हैं जो किसी समय विशेष रूप में तरंगित होकर फिर यथा काल अपने यथार्थ रूप में विलीन हो जाती हैं। भाषा का प्रवाह सदा ऐसा ही रहा है और रहेगा। परन्तु काल का नियंत्रण भी अपना प्रभाव रखता है, उसकी शक्ति भी अनिवार्य्य है।

मैंने हिन्दी-भाषा के आधुनिक रूप (खड़ी बोली) के प्रधान प्रधान सिद्धान्तों के विषय में जो थोड़े में कहा है, वह दिग्दर्शन मात्र है। अधिक विस्तार संभव न था। उन्हीं पर दृष्टि रखकर मैंने 'वैदेही-वनवास' के पद्यों की रचना की है। कवि-कर्म्म की दुरूहता मैंने पहले ही निरूपण की है, मनुष्य भूल और भ्रान्ति रहित होता नहीं। महाकवि भी इनसे सुरक्षित नहीं रह सके। कवितागत दोष इतने व्यापक हैं कि उनसे बड़े बड़े प्रतिभावान् भी नहीं बच सके। मैं साधारण विद्या, बुद्धि का मनुष्य हूँ, इन सब बातों से रहित कैसे हो सकता हूँ। विबुध-वृन्द और सहृदय सज्जनों से सविनय यही निवेदन है कि ग्रंथ में यदि

कुछ गुण हो तो वे उन्हें अपनी सहज सदाशयता का प्रसाद समझेंगे, दोष ही दोष मिलें तो अपनी उदात्त चित्त-वृत्ति पर दृष्टि रखकर एक अल्प विषयामति को क्षमा दान करने की कृपा करेंगे।

दोहा

जिसके सेवन से बने पामर नर-सिरमौर।
राम रसायन से सरस है न रसायन और॥

हरिऔध

५-२-४०

विषय-सूची

प्रथम सर्ग

उपवन

रोला

लोक - रंजिनी उषा - सुन्दरी रंजन - रत थी।
नभ - तल था अनुराग - रँगा आभा - निर्गत थी॥
धीरे धीरे तिरोभूत तामस होता था।
ज्योति - बीज प्राची - प्रदेश में दिव बोता था॥ १॥

किरणों का आगमन देख ऊषा मुसकाई।
मिले साटिका - लैस - टँकी लसिता बन पाई॥
अरुण-अंक से छटा छलक क्षिति-तल पर छाई।
भृङ्ग गान कर उठे विटप पर बजी बधाई॥ २॥

दिन मणि निकले, किरण ने नवल ज्योति जगाई।
मुक्त-मालिका विटप तृणावलि तक ने पाई॥
शीतल बहा समीर कुसुम-कुल खिले दिखाये।
तरु-पल्लव जगमगा उठे नव आभा पाये॥ ३॥

सर-सरिता का सलिल सुचारु बना लहराया।
विन्दु-निचय ने रवि के कर से मोती पाया॥
उठ उठ कर नाचने लगीं बहु-तरल-तरंगें।
दिव्य बन गईं वरुण-देव की विपुल उमंगें॥ ४॥

सारा-तम टल गया अंधता भव की छूटी।
प्रकृति-कंठ-गत मुग्ध-करी मणिमाला टूटी॥
बीत गई यामिनी दिवस की फिरी दुहाई।
बनीं दिशायें दिव्य प्रभात प्रभा दिखलाई॥ ५॥

एक रम्यतम-नगर सुधा-धवलित-धामों पर।
पड़ कर किरणें दिखा रही थीं दृश्य-मनोहर॥
गगन-स्पर्शी ध्वजा-पुंज के, रत्न-विमण्डित—
कनक-दण्ड, द्युति दिखा बनाते थे बहु - हर्षित॥ ६॥

किरणें उनकी कान्त कान्ति से मिल जब लसतीं।
निज आभा को जब उनकी आभा पर कसतीं॥
दर्शक दृग उस समय न टाले से टल पाते।
वे होते थे मुग्ध, हृदय थे उछले जाते॥ ७॥

दमक-दमक कर विपुल-कलस जो कला दिखाते।
उसे देख रवि ज्योति दान करते न अघाते॥
दिवस काल में उन्हें न किरणें तज पाती थीं।
आये संध्या-समय विवश बन हट जाती थीं॥ ८॥

हिल हिल मंजुल-ध्वजा अलौकिकता थी पाती।
दर्शक-दृग को बार बार थी मुग्ध बनाती॥
तोरण पर से सरस-वाद्य ध्वनि जो आती थी।
मानों सुन वह उसे नृत्य-रत दिखलाती थी॥ ९॥

इन धामों के पार्श्व-भाग में बड़ा मनोहर।
एक रम्य-उपवन था नन्दन-वन सा सुन्दर॥
उसके नीचे तरल-तरंगायित सरि-धारा।
प्रवह-मान हो करती थी कल-कल-रव न्यारा॥१०॥

उसके उर में लसी कान्त-अरुणोदय-लाली।
किरणों से मिल दिखा रही थी कान्ति-निराली॥
कियत्काल उपरान्त अंक सरि का हो उज्वल।
लगा जगमगाने नयनों में भर कौतूहल॥११॥

उठे बुलबुले कनक-कान्ति से कान्तिमान बन।
लगे दिखाने सामूहिक अति-अद्भुत-नर्त्तन॥
उठी तरंगें रवि कर का चुम्बन थीं करती।
पाकर मंद-समीर विहरतीं उमग उभरतीं॥१२॥

सरित-गर्भ में पड़ा बिम्ब प्रासाद-निचय का।
कूल-विराजित विटप-राजि छाया अभिनय का॥
दृश्य बड़ा था रम्य था महा-मंजु दिखाता।
लहरों में लहरा लहरा था मुग्ध बनाता॥१३॥

उपवन के अति-उच्च एक मंडप में विलसी।
मूर्त्ति-युगल इन दृश्यों के देखे थी विकसी॥
इनमें से थे एक दिवाकर कुल के मण्डन।
श्याम गात आजानु-बाहु सरसीरुह-लोचन॥१४॥

मर्यादा के धाम शील-सौजन्य-धुरंधर।
दशरथ-नन्दन राम परम-रमणीय-कलेवर॥
थीं दूसरी विदेह-नन्दिनी लोक-ललामा।
सुकृति-स्वरूपा सती विपुल-मंजुल-गुण-धामा॥१५॥

वे बैठी पति साथ देखती थीं सरि-लीला।
था वदनांबुज विकच वृत्ति थी संयम-शीला॥
सरस मधुर वचनों के मोती कभी पिरोतीं।
कभी प्रभात-विभूति विलोक प्रफुल्लित होतीं॥१६॥

बोले रघुकुल-तिलक प्रिये प्रातः-छवि प्यारी।
है नितान्त-कमनीय लोक-अनुरंजनकारी॥
प्रकृति-मृदुल-तम-भाव-निचय से हो हो लसिता।
दिनमणि-कोमल-कान्ति व्याज से है सुविकसिता॥१७॥

सरयू सरि ही नहीं सरस बन है लहराती।
सभी ओर है छटा छलकती सी दिखलाती॥
रजनी का वर-व्योम विपुल वैचित्र्य भरा है।
दिन में बनती दिव्य-दृश्य-आधार धरा है॥१८॥

हो तरंगिता-लसिता-सरिता यदि है भाती।
तो दोलित-तरु-राजि कम नहीं छटा दिखाती॥
जल में तिरती केलि मयी मछलियाँ मनोहर।
कर देती हैं सरित-अंक को जो अति सुन्दर॥१९॥

तो तरुओं पर लसे विहरते आते जाते।
रंग बिरंगे विहग-वृन्द कम नहीं लुभाते॥
सरिता की उज्वलता तरुचय की हरियाली।
रखती है छवि दिखा मंजुता-मुख की लाली॥२०॥

हैं प्रभात उत्फुल्ल-मूर्त्ति कुसुमों में पाते।
आहा! वे कैसे हैं फूले नहीं समाते॥
मानों वे हैं महानन्द-धारा में बहते।
खोल खोल मुख वर-विनोद-बातें हैं कहते॥२१॥

है उसकी माधुरी विहग - रट में मिल पाती ।
जो मिठास से किसे नहीं है मुग्ध बनाती ॥
मंद मंद बह बह समीर सौरभ फैलाता ।
सुख - स्पर्श सद्‌गंध - सदन है उसे बताता ॥२२॥

हैं उसकी दिव्यता दमक किरणें दिखलाती ।
जगी - ज्योति उसको ज्योतिर्मय है बतलाती ॥
सहज - सरसता, मोहकता, सरिता है कहती ।
ललित लहर - लिपि - माला में है लिखती रहती ॥२३॥

जगी हुई जनता निज कोलाहल के द्वारा ।
कर्म - क्षेत्र में बही विविध - कर्मों की धारा ॥
उसकी जाग्रत करण क्रिया को है जतलाती ।
नाना - गौरव - गीत सहज - स्वर से है गाती ॥२४॥

लोक - नयन - आलोक, रुचिर - जीवन - संचारक ।
स्फूर्ति - मूर्त्ति उत्साह - उत्स जागर्त्ति - प्रचारक ॥
भव का प्रकृत - स्वरूप - प्रदर्शक, छबि - निर्माता ।
है प्रभात उल्लास - लसित दिव्यता - विधाता ॥२५॥

कितनी है कमनीय - प्रकृति कैसे बतलायें ।
उसके सकल - अलौकिक गुण - गण कैसे गायें ॥
है अतीव - कोमला विश्व - मोहक - छबि वाली ।
बड़ी सुन्दरी सहज - स्वभावा भोली - भाली ॥२६॥

करुणाभाव से सिक्त सदयता की है देवी ।
है संसृति की भूति - राशि पद - पंकज - सेवी ॥
हैं उसके बहु - रूप विविधता है वरणीया ।
प्रातः - कालिक - मूर्त्ति अधिक तर है रमणीया ॥२७॥

जनक - सुता ने कहा प्रकृति - महिमा है महती।
पर वह कैसे लोक - यातनाएँ है सहती॥
क्या है हृदय - विहीन ? तो अखिल-हृदय बना क्यों ?
यदि है सहृदय आँखों से आँसू न छना क्यों ? ॥२८॥

यदि वह जड़ है तो चेतन क्यों, चेत, न, पाया।
दु:ख - दग्ध संसार किस लिये गया बनाया॥
कितनी सुन्दर - सरस - दिव्य - रचना वह होती।
जिसमें मानस - हंस सदा पाता सुख - मोती॥२६॥

कुछ पहले थी निशा सुन्दरी कैसी लसती।
सिता - साटिका मिले रही कैसी वह हँसती॥
पहन तारकावलि की मंजुल - मुक्ता - माला।
चन्द्र - वदन अवलोक सुधा का पी पी प्याला॥३०॥

प्राय: उल्का पुंज पात से उद्भासित बन।
दीपावलि का मिले सर्वदा दीप्ति - मान - तन॥
देखे कतिपय - विकच - प्रसूनों पर छवि छाई।
विभावरी थी विपुल विनोदमयी दिखलाई॥३१॥

असित-दिव्य - तारक - चय द्वारा विभु-विभुता की।
जिसने दिखलाई दिव - दिवता की वर - झाँकी॥
भव - विराम जिसके विभवों पर है अवलंबित।
वह रजनी इस काल काल द्वारा है कवलित॥३२॥

जो मयंक नभतल को था बहु कान्त बनाता।
वसुंधरा पर सरस - सुधा जो था बरसाता॥
जो रजनी को लोक - रंजिनी है कर पाता।
वही तेज - हत हो अब है डूबता दिखाता॥३३॥

जो सरयू इस समय सरस - तम है दिखलाती।
उठा उठा कर ललित लहर जो है ललचाती॥
शान्त, धीर, गति जिसकी है मृदुता सिखलाती।
ज्योतिमयी बन जो है अन्तर - ज्योति जगाती॥३४॥

प्लावन का कर संग वही पातक करती है।
कर निमग्न बहु जीवों का जीवन हरती है॥
डुबा बहुत से सदन, गिराकर तट - विटपी को।
करती है जल - मग्न शस्य - श्यामला मही को॥३५॥

कल मैंने था जिन फूलों को फूला देखा।
जिनकी छबि पर मधुर - निकर को भूला देखा॥
प्रफुल्लता जिनकी थी बहु उत्फुल्ल बनाती।
जिनकी मंजुल - महँक मुदित मन को कर पाती॥३६॥

उनमें से कुछ धूल में पड़े हैं दिखलाते।
कुछ हैं कुम्हला गये और कुछ हैं कुम्हलाते॥
कितने हैं छबि - हीन बने नुचते हैं कितने।
कितने हैं उतने न कान्त पहले थे जितने॥३७॥

सुन्दरता में कौन कर सका समता जिनकी।
उन्हें मिली है आयु एक दिन या दो दिन की॥
फूलों सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाया।
किन्तु उन्होंने कितना लघु - जीवन है पाया॥३८॥

स्वर्णपुरी का दहन आज भी भूल न पाया।
बड़ा भयंकर - दृश्य उस समय था दिखलाया॥
निरपराध बालक - विलाप अबला का क्रंदन।
विवश - वृद्ध - वृद्धाओं का व्याकुल बन रोदन॥३९॥

रोगी - जन की हाय हाय आहें कृश - जन की।
जलते जन की त्राहि त्राहि कातरता मन की॥
ज्वाला से घिर गये व्यक्तियों का चिल्लाना।
अवलोके गृह - दाह गृही का थर्रा जाना॥४०॥

भस्म हो गये प्रिय स्वजनों का तन अवलोके।
उनकी दुर्गति का वर्णन करना रो रो के॥
बहुत कलपना उसका जो था वारि न पाता।
जब होता है याद चित व्यथित है हो जाता॥४१॥

समर - समय की महालोक संहारक लीला।
रण भू का पर्वत समान ऊँचा शव - टीला॥
बहती चारों ओर रुधिर की खर - तर - धारा।
धरा कँपा कर बजता हाहाकार नगारा॥४२॥

क्रंदन, कोलाहल, बहु आहों की भरमारें।
आहत जन की लोक प्रकंपित करी पुकारें।
कहाँ भूल पाईं वे तो हैं भूल न पाती।
स्मृति उनकी है आज भी मुझे बहुत सताती॥४३॥

आह ! सती सिरधरी प्रमीला का बहु क्रंदन।
उसकी बहु व्याकुलता उसका हृदयस्पंदन॥
मेघनाद शव सहित चिता पर उसका चढ़ना।
पति प्राणा का प्रेम पंथ में आगे बढ़ना॥४४॥

कुछ क्षण में उस स्वर्ग - सुन्दरी का जल जाना।
मिट्टी में अपना महान सौंदर्य्य मिलाना॥
बड़ी दुःख - दायिनी मर्म - वेधी - बातें हैं।
जिनको कहते खड़े रोंगटे हो जाते हैं॥४५॥

पति परायणा थी वह क्यों जीवित रह पाती।
पति चरणों में हुई अर्पिता पति की थाती॥
धन्य भाग्य, जो उसने अपना जन्म बनाया।
सत्य - प्रेम - पथ - पथिका बन बहु गौरव पाया॥४६॥

व्यथा यही है पड़ी सती क्यों दुख के पाले।
पड़े प्रेम - मय उर में कैसे कुत्सित छाले॥
आह! भाग्य कैसे उस पति प्राणा का फूटा।
मरने पर भी जिससे पति पद - कंज न छूटा॥४७॥

कलह मूल हूँ शान्ति इसी से मैं खोती हूँ।
मर्माहत मैं इसीलिये बहुधा होती हूँ॥
जो पापिनी - प्रवृत्ति न लंका - पति की होती।
क्यों बढ़ता भूभार मनुजता कैसे रोती॥४८॥

अच्छा होता भली - वृत्ति ही जो भव पाता।
मंगल होता सदा अमंगल मुख न दिखाता॥
सबका होता भला फले फूले सब होते।
हँसते मिलते लोग दिखाते कहीं न रोते॥४९॥

होता सुख का राज, कहीं दुख लेश न होता।
हित रत रह, कोई न बीज अनहित का बोता॥
पाकर बुरी अशान्ति गरलता से छुटकारा।
बहती भव में शान्ति - सुधा की सुन्दर धारा॥५०॥

हो जाता दुर्भाव दूर सद्भाव सरसता।
उमड़ उमड़ आनन्द जलद सब ओर बरसता॥
होता अवगुण मग्न गुण पयोनिधि लहराता।
गर्जन सुन कर दोष निकट आते शर्माता॥५१॥

फूली रहती सदा मनुजता की फुलवारी ।
होती उसको सरस सुरभि त्रिभुवन की प्यारी ।।
किन्तु कहूँ क्या है विडम्बना विधि की न्यारी ।
इतना कह कर खिन्न हो गईं जनक दुलारी ।।५२।।

कहा राम ने यहाँ इसलिये मैं हूँ आया ।
मुदित कर सकूँ तुम्हें प्रियतमे कर मनभाया ।।
किन्तु समय ने जब है सुन्दर समा दिखाया ।
पड़ी किस लिये हृदय-मुकुर में दुख की छाया ।।५३।।

गर्भवती हो रखो चित्त उत्फुल सदा हीं ।
पड़े व्यथित कर विषय की न उसपर परछाँहीं ।।
माता-मानस-भाव समूहों में ढलता है ।
प्रथम उदर पलने हो में बालक पलता है ।।५४।।

हरे भरे इस पीपल तरु को प्रिये विलोको ।
इसके चञ्चल-दीप्तिमान-दल को अवलोको ।।
वर-विशालता इसकी है बहु-चकित बनाती ।
अपर द्रुमों पर शासन करती है दिखलाती ।।५५।।

इसके फल दल से बहु-पशु-पक्षी पलते हैं ।
पा इसका पंचांग रोग कितने टलते हैं ।।
दे छाया का दान सुखित सबको करता है ।
स्वच्छ बना वह वायु दूषणों को हरता है ।।५६।।

मिट्टी में मिल एक बीज, तरु बन जाता है ।
जो सदैव बहुशः बीजों को उपजाता है ।।
प्रकट देखने में विनाश उसका होता है ।
किन्तु सृष्टि-गति-सरि का वह बनता सोता है ।।५७।।

शीतल मंद समीर सौरभित हो वहता है।
भव कानों में बात सरसता की कहता है॥
प्राणि मात्र के चित्त को वह पुलकित करता है।
प्रातः को प्रिय बना सुरभि भू में भरता है॥५८॥

सुमनावलि को हँसा खिलाता है कलिका को।
लीलामयी बनाता है लसिता लतिका को॥
तरु दल को कर केलि-कान्त है कला दिखाता।
नर्त्तन करना लसित लहर को है सिखलाता॥५९॥

ऐसे सरस पवन प्रवाह से, जो बुझ जावे।
कोई दीपक या पत्ता गिरता दिखलावे॥
या कोई रोगी शरीर सह उसे न पावे।
या कोई तृण उड़ दव में गिर गात जलावे॥६०॥

तो समीर को दोषी कैसे विश्व कहेगा।
है वह अपचिति-रत न अतः निर्दोष रहेगा॥
है स्वभावतः प्रकृति विश्वहित में रत रहती।
इसी लिये है विविध स्वरूपवती अति महती॥६१॥

पंचभूत उसकी प्रवृत्ति के हैं परिचायक।
हैं उसके विधान ही के विधि सविधि-विधायक॥
भव के सब परिवर्तन हैं स्वाभाविक होते।
मंगल के ही बीज विश्व में वे हैं बोते॥६२॥

यदि है प्रातः दीप पवन गति से बुझ जाता।
तो होता है वही जिसे जन-कर कर पाता॥
सूखा पत्ता नहीं किरण ग्राही होता है।
होके रस से हीन सरसतायें खोता है॥६३॥

हरित दलों के मध्य नहीं शोभा पाता है।
हो निस्सार विटप में लटका दिखलाता है॥
अतः पवन स्वाभाविक गति है उसे गिराती।
जिससे वह हो सके मृत्तिका बन महिथाती॥६४॥

सहज पवन की प्रगति जो नहीं है सह जाती।
तो रोगी को सावधानता है सिखलाती॥
रूपान्तर से प्रकृति उसे है डाँट वताती।
स्वास्थ्य नियम पालन निमित्त है सजग बनाती॥६५॥

यह चाहता समीर न था तृण उड़ जल जाये।
थी न आग की चाह राख वह उसे बनाये॥
किन्तु पलक मारते हो गईं उभय क्रियायें।
होती हैं भव में प्रायः ऐसी घटनायें॥६६॥

जो हो तृण के तुल्य तुच्छ उड़ते फिरते हैं।
प्रकृति करों से वे यों हीं शासित होते हैं॥
यह शासन कारिणी वृत्ति श्रीमती प्रकृति की।
है बहु मंगलमयी शोधिका है संसृति की॥६७॥

आँधी का उत्पात पतन उपलों का बहुधा।
हिल हिल कर जो महानाश करती है वसुधा॥
ज्वालामुखी-प्रकोप उदधि का धरा निगलना।
देशों का विध्वंस काल का आग उगलना॥६८॥

इसी तरह के भव-प्रपंच कितने हैं ऐसे।
नहीं बताये जा सकते हैं वे हैं जैसे॥
है असंख्य ब्रह्मांड स्वामिनी प्रकृति कहाती।
बहु-रहस्यमय उसकी गति क्यों जानी जाती॥६९॥

कहाँ किसलिये कब वह क्या करती है क्यों कर।
कभी इसे बतला न सकेगा कोई बुधवर॥
किन्तु प्रकृति का परिशीलन यह है जतलाता।
है स्वाभाविकता से उसका सच्चा नाता॥७०॥

है वह विविध विधानमयी भव-नियमन-शीला।
लोक-चकित-कर है उसकी लोकोत्तर लीला॥
सामञ्जस्यरता प्रवृत्ति सद्भाव भरी है।
चिरकालिक अनुभूति सर्व संताप हरी है॥७१॥

यदि उसकी विकराल मूर्त्ति है कभी दिखाती।
तो होती है निहित सदा उसमें हित थाती॥
तप ऋतु आकर जो होता है ताप विधाता।
तो ला कर घन बनता है जग-जीवन-दाता॥७२॥

जो आँधी उठ कर है कुछ उत्पात मचाती।
धूल उड़ा डालियाँ तोड़ है विटप गिराती॥
तो है जीवनप्रद समीर का शोधन करती।
नई हितकरी भूति धरातल में है भरती॥७३॥

जहाँ लाभ प्रद अंश अधिक पाया जाता है।
थोड़ी क्षति का ध्यान वहाँ कब हो पाता है॥
जहाँ देश हित प्रश्न सामने आ जाता है।
लाखों शिर अर्पित हो कटता दिखलाता है॥७४॥

जाति मुक्ति के लिये आत्म-बलि दी जाती है।
परम अमंगल क्रिया पुण्य कृति कहलाती है॥
इस रहस्य को बुध पुंगव जो समझ न पाते।
तो प्रलयंकर कभी नहीं शंकर कहलाते॥७५॥

सृष्टि या प्रकृति कृति को, बहुधा कह कर माया।
कुछ विबुधों ने है गुण-दोष-मयी बतलाया॥
इस विचार से है चित् शक्ति कलंकित होती।
बहु विदिता निज सर्व शक्तिमत्ता है खोती॥७६॥

किन्तु इस विषय पर अब मैं कुछ नहीं कहूँगा।
अधिक विवेचन के प्रवाह में नहीं बहूँगा॥
फिर तुम हुई प्रफुल्ल हुआ मेरा मनभाया।
प्रिये कहाँ तुमने ऐसा कोमल चित पाया॥७७॥

सब को सुख हो कभी नहीं कोई दुख पाये।
सबका होवे भला किसी पर बला न आये॥
कब यह संभव है पर है कल्पना निराली।
है इसमें रस भरा सुधा है इसमें ढाली॥७८॥

दोहा

इतना कह रघुवंश-मणि, दिखा अतुल-अनुराग।
सदन सिधारे सिय सहित, तज बहु-विलसित बाग॥

द्वितीय सर्ग

—।-।—

चिन्तित चित्त

—*—

चतुष्पद

अवध के राज मन्दिरों मध्य ।
एक आलय था बहु - छवि - धाम ॥
खिँचे थे जिसमें ऐसे चित्र ।
जो कहाते थे लोक - ललाम ॥ १ ॥

दिव्य - तम कारु - कार्य अवलोक ।
अलौकिक होता था आनन्द ॥
रत्नमय पच्चीकारी देख ।
दिव विभा पड़ जाती थी मन्द ॥ २ ॥

कला कृति इतनी थी कमनीय ।
दिखाते थे सब चित्र सजीव ॥
भाव की यथातथ्यता देख ।
दृष्टि होती थी मुग्ध अतीव ॥ ३ ॥

अंग - भंगी, आकृति की व्यक्ति।
चित्र के चित्रण की थी पूर्ति ॥
ललित तम कर की खिँची लकीर।
बनी थी दिव्य - भूति की मूर्त्ति ॥ ४ ॥

देखते हुए मुग्धकर – चित्र।
सदन में राम रहे थे घूम ॥
चाह थी चित्रकार मिल जाय।
हाथ तो उसके लेवें चूम ॥ ५ ॥

इसी अवसर पर आया एक –
गुप्तचर वहाँ विकंपित - गात ॥
विनत हो वन्दन कर कर जोड़।
कही दुख से उसने यह बात ॥ ६ ॥

प्रभो यह सेवक प्रातःकाल।
घूमता फिरता चारों ओर ॥
उस जगह पहुँचा जिसको लोग।
इस नगर का कहते हैं छोर ॥ ७ ॥

वहाँ पर एक रजक हो क्रुद्ध।
रोक कर गृह प्रवेश का द्वार ॥
त्रिया को कड़ी दृष्टि से देख।
पूछता था यह बारम्बार ॥ ८ ॥

बिताई गई कहाँ पर रात्रि।
लगा कर लोक - लाज को लात ॥
पापिनी कुल में लगा कलंक।
यहाँ क्यों आई हुए प्रभात ॥ ९ ॥

चली जा हो आँखों से दूर।
अब यहाँ क्या है तेरा काम॥
कर रही है तू भारी भूल।
जो समझती है मुझको राम॥१०॥

रहीं जो पर-गृह में षट्मास।
हुई है उनकी उन्हें प्रतीति॥
बड़ों की बड़ी बात है किन्तु।
कलंकित करती है यह नीति॥११॥

प्रभो बतलाई थी यह बात।
विनय मैंने की थी बहु बार॥
नहीं माना जाता है ठीक।
जनकजा पुनर्ग्रहण व्यापार॥१२॥

आदि में थी यह चर्चा अल्प।
कभी कोई कहता यह बात॥
और कहते भी वे ही लोग।
जिन्हें था धर्म-मर्म अज्ञात॥१३॥

अब नगर भर में वह है व्याप्त।
बढ़ रहा है जन चित्त - विकार॥
जनपदों ग्रामों में सब ओर।
हो रहा है उसका विस्तार॥१४॥

किन्तु साधारण जनता मध्य।
हुआ है उसका अधिक प्रसार॥
उन्हीं के भावों का प्रतिबिम्ब।
रजक का है निन्दित - उद्गार॥१५॥

विवेकी विज्ञ सर्व - बुध - वृन्द ।
कर रहे हैं सद्बुद्धि प्रदान ॥
दिखाकर दिव्य - ज्ञान - आलोक ।
दूर करते हैं तम अज्ञान ॥१६॥

अवांछित हो पर है यह सत्य ।
बढ़ रहा है बहु - वाद - विवाद ॥
प्रभो मैं जान सका न रहस्य ।
किन्तु है निंद्य लोक - अपवाद ॥१७॥

राम ने बनकर बहु - गंभीर ।
सुनी दुर्मुख के मुख की बात ॥
फिर उसे देकर गमन निदेश ।
सोचने लगे बन बहुत शान्त ॥१८॥

बात क्या है ? क्यों यह अविवेक ? ।
जनकजा पर भी यह आक्षेप ॥
उस सती पर जो हो अकलंक ।
क्या बुरा है न पंक - निक्षेप ॥१६॥

निकलते ही मुख से यह बात ।
पड़ गई एक चित्र पर दृष्टि ॥
देखते ही जिसके तत्काल ।
दृगों में हुई सुधा की वृष्टि ॥२०॥

दारु का लगा हुआ अम्बार ।
परम-पावक-मय बन हो लाल ॥
जल रहा था धू धू ध्वनि साथ ।
ज्वालमाला से हो विकराल ॥२१॥

एक स्वर्गीय - सुन्दरी स्वच्छ-
पूत - तम - वसन किये परिधान ॥
कर रही थी उसमें सुप्रवेश।
कमल-मुख था उत्फुल्ल महान ॥२२॥

परम - देदीप्यमान हो अंग।
बन गये थे बहु - तेज - निधान ॥
दृगों से निकल ज्योति का पुंज।
बनाता था पावक को म्लान ॥२३॥

सामने खड़ा रिक्ष कपि यूथ।
कर रहा था बहु जय जय कार ॥
गगन में बिलसे विबुध विमान।
रहे बरसाते सुमन अपार ॥२४॥

बात कहते अंगारक पुंज।
बन गये विकच कुसुम उपमान ?
लसी दिखलाईं उस पर सीय।
कमल पर कमलासना समान ॥२५॥

देखते रहे राम यह दृश्य।
कुछ समय तक हो हो उद्ग्रीव ॥
फिर लगे कहने अपने आप।
क्या न यह कृति है दिव्य अतीव ॥२६॥

मैं कभी हुआ नहीं संदिग्ध।
हुआ किस काल में अविश्वास ॥
भरा है प्रिया चित्त में प्रेम।
हृदय में है सत्यता निवास ॥२७॥

राजसी विभवों से मुँह मोड़।
स्वर्ग - दुर्लभ सुख का कर त्याग ।।
सर्व प्रिय सम्बन्धों को भूल।
ग्रहण कर नाना विषय विराग ।।२८।।

गहन विपिनों में चौदह साल।
सदा छाया सम रह मम साथ ।।
साँसतें सह खा फल दल मूल।
कभी पी करके केवल पाथ ।।२९।।

दुग्ध फेनोपम अनुपम सेज।
छोड़ मणि-मण्डित-कञ्चन-धाम ।।
कुटी में रह सह नाना कष्ट।
बिताये हैं किसने वसुयाम ।।३०।।

कमलिनी - सी जो है सुकुमार।
कुसुम कोमल है जिसका गात ।।
चटाई पर या भू पर पौढ़।
बिताई उसने है सब रात ।।३१।।

देख कर मेरे मुख की ओर।
भूलते थे सब दुख के भाव ।।
मिल गये कहीं कंटकित पंथ।
छिदे किसके पंकज से पाँव ।।३२।।

नहीं घबरा पाती थी कौन।
देख फल दल के भाजन रिक्त ।।
बनाती थीं न किसे उद्विग्न।
टपकती कुटी धरा जल सिक्त ।।३३।।

भूल अपना पथ का अवसाद।
वदन को बना विकच जलजात॥
पास आ व्यजन डुलाती कौन।
देख कर स्वेद - सिक्त मम गात॥३४॥

हमारे सुख का मुख अवलोक।
बना किसको वन सुर - उद्यान॥
कुसुम कंटक, चन्दन, तप - ताप।
प्रभंजन मलय - समीर समान॥३५॥

कहाँ तुम और कहाँ वनवास।
यदि कभी कहता चले प्रसंग॥
तो विहँस कहतीं त्याग सकी न।
चन्द्रिका चन्द्र देव का संग॥३६॥

दिखाया किसने अपना त्याग।
लगा लंका विभवों को लात॥
सहे किसने धारण कर धीर।
दानवों के अगणित - उत्पात॥३७॥

दानवी दे दे नाना त्रास।
बनाकर रूप बड़ा विकराल॥
विकम्पित किसको बना सकी न।
दिखाकर बदन विनिर्गत ज्वाल॥३८॥

लोक-त्रासक-दशआनन भीति।
उठी उसको कठोर करवाल॥
बना किसको न सकी बहु त्रस्त।
सकी किसको न परिग्रस्त टाल॥३९॥

कौन कर नाना-व्रत उपवास।
गलाती रहती थी निज गात॥
बिताया किसने संकट-काल।
तरु तले बैठी रह दिन रात॥४०॥

नहीं सकती जो पर दुख देख।
हृदय जिसका है परम-उदार॥
सर्व जन सुख संकलन निमित्त।
भरा है जिसके उर में प्यार॥४१॥

सरलता की जो है प्रतिमूर्त्ति।
सहजता है जिसकी प्रिय-नीति॥
बड़े कोमल हैं जिसके भाव।
परम-पावन है जिसकी प्रीति॥४२॥

शान्ति-रत जिसकी मति को देख।
लोप होता रहता है कोप॥
मानसिक-तम करता है दूर।
दिव्य जिसके आनन का ओप॥४३॥

सुरुचिमय है जिसकी चित-वृत्ति।
कुरुचि जिसको सकती है छू न॥
हृदय है इतना सरस दयार्द्र।
तोड़ पाते कर नहीं प्रसून॥३४॥

करेगा उस पर शंका कौन।
क्यों न उसका होगा विश्वास॥
यही था अग्नि-परीक्षा मर्म।
होे न जिससे जग में उपहास॥४५॥

अनिच्छा से हो खिन्न नितान्त ।
कियां था मैंने ही यह काम ।।
प्रिया का ही था यह प्रस्ताव ।
न लाञ्छित हो जिससे मम नाम ।।४६।।

पर कहाँ सफल हुआ उद्देश ।
लग रहा है जब वृथा कलंक ।।
किसी कुल - बाला पर बन वक्र ।
जब पड़ी लोक - दृष्टि निःशंक ।।४७।।

सत्य होवे या वह हो झूठ ।
या कि हो कलुषित चित्त प्रमाद ।।
निंद्य है है अपकीर्त्ति - निकेत ।
लांछना - निलय लोक - अपवाद ।।४८।।

भले ही कुछ न कहें बुध - वृन्द ।
सज्जनों को हो सुने विषाद ।।
किन्तु है यह जन - रव अच्छा न ।
अवांछित है यह वाद - विवाद ।।४९।।

मिल सका मुझे न इसका भेद ।
हो रहा है क्यों अधिक प्रसार ।।
बन रहा है क्या साधन - हीन ।
लोक - आराधन का व्यापार ।।५०।।

प्रकृति गत है, है उर में व्याप्त ।
प्रजा - रंजन की नीति - पुनीत ।।
दण्ड में यथा - उचित सर्वत्र ।
है सरलता सज्जन गृहीत ।।५१।।

न्याय को सदा मान कर न्याय।
किया मैंने न कभी अन्याय ॥
दूर की मैंने पाप-प्रवृत्ति।
पुण्यमय करके प्रचुर-उपाय ॥५२॥

सबल के सारे अत्याचार।
शमन में हूँ अद्यापि प्रवृत्त ॥
निर्बलों का बल बन दल दुःख।
विपुल पुलकित होता है चित्त ॥५३॥

रहा रक्षित उत्तराधिकार।
छिना मुझसे कब किसका राज ॥
प्रजा की बनी प्रजा-सम्पत्ति।
ली गई कभी न वह कर व्याज ॥५४॥

मुझे है कूटनीति न पसंद।
सरलतम है मेरा व्यवहार ॥
वंचना विजितों को कर व्योंत।
बचाया मैंने बारंबार ॥५५॥

समझ नृप का उत्तर-दायित्व।
जान कर राज-धर्म का मर्म ॥
ग्रहण कर उचित नम्रता भाव।
कर्मचारी करते हैं कर्म ॥५६॥

भूल कर भेद भाव की बात।
विलसिता समता है सर्वत्र ॥
तुष्ट है प्रजामात्र बन शिष्ट।
सीख समुचित स्वतंत्रता मंत्र ॥५७॥

परस्पर प्रीति का समझ लाभ।
हुए मानवता की अनुभूति ॥
सुखित है जनता सुख-मुख देख।
पा गये वांछित सकल-विभूति ॥५८॥

दानवों का हो गया निपात।
तिरोहित हुआ प्रबल आतंक ॥
दूर हो गया धर्म का द्रोह।
शान्तिमय बना मेदिनी अंक ॥५९॥

निरापद हुए सर्व-शुभ-कर्म।
यज्ञ-बाधा का हुआ विनाश ॥
टल गया पाप-पुंज तम-तोम।
विलोके पुण्य-प्रभात-प्रकाश ॥६०॥

कर रहे हैं सब कर्म स्वकीय।
समझ कर वर्णाश्रम का मर्म ॥
बन गये हैं मर्यादा-शील।
धृति सहित धारण करके धर्म ॥६१॥

विलसती है घर घर में शांति।
भरा है जन जन में आनन्द ॥
कहीं है कलह न कपटाचार।
न निन्दित-वृत्ति-जनित छल-छन्द ॥६२॥

हुए उत्तेजित मन के भाव।
शान्त बन जाते हैं तत्काल ॥
याद कर मानवता का मंत्र।
लोक नियमन पर आँखें डाल ॥६३॥

समय पर जल देते हैं मेघ।
सताती नहीं ईति की भीति॥
दिखाते कहीं नहीं दुर्वृत्त।
भरी है सब में प्रीति प्रतीति॥६४॥

फिर हुई जनता क्यों अप्रसन्न।
हुआ क्यों प्रबल लोक-अपवाद॥
सुन रहे हैं क्यों मेरे कान।
असंगत अ-मनोरम सम्वाद॥६५॥

लग रहा है क्यों वृथा कलंक।
खुला कैसे अकीर्ति का द्वार॥
समझ में आता नहीं रहस्य।
क्या करूँ मैं इसका प्रतिकार॥६६॥

दोहा

इन बातों को सोचते, कहते सिय गुण ग्राम।
गये दूसरे गेह में, धीर धुरंधर राम॥६७॥

तृतीय सर्ग

—:ঃ:—

मंत्रणा गृह

—।ः—

चतुष्पद

मंत्रणा गृह में प्रातःकाल।
भरत लक्ष्मण रिपुसूदन संग॥
राम बैठे थे चिन्ता-मग्न।
छिड़ा था जनकात्मजा-प्रसंग॥ १॥

कथन दुर्मुख का आद्योपान्त।
राम ने सुना, कही यह बात॥
अमूलक जन-रव होवे किन्तु।
कीर्त्ति पर करता है पविपात॥ २॥

हुआ है जो उपकृत वह व्यक्ति।
दोष को भी न कहेगा दोष॥
बना करता है जन-रव हेतु।
प्रायशः लोक का असन्तोष॥ ३॥

प्रजा-रंजन हित-साधन भाव।
राज्य-शासन का है वर-अंग॥
है प्रकृति प्रकृत नीति प्रतिकूल।
लोक आराधन व्रत का भंग॥ ४॥

क्यों टले बढ़ा लोक-अपवाद।
इस विषय में है क्या कर्तव्य॥
अधिक हित होगा जो हो ज्ञात।
बन्धुओं का क्या है वक्तव्य॥ ५॥

भरत सविनय बोले संसार।
विभामय होते, है तम-धाम॥
वहीं है अधम जनों का वास।
जहाँ हैं मिलते लोक-ललाम॥ ६॥

तो नहीं नीच-मना हैं अल्प।
यदि मही में हैं महिमावान॥
बुरों को है प्रिय पर-अपवाद।
भले हैं करते गौरव गान॥ ७॥

किसी को है विवेक से प्रेम।
किसी को प्यारा है अविवेक॥
जहाँ हैं हंस-वंश-अवतंस।
वहीं पर हैं बक-वृत्ति अनेक॥ ८॥

द्वेष परवश होकर ही लोग।
नहीं करते हैं निन्दावाद॥
वृथा दंभी जन भी कर दंभ।
सुनाते हैं अप्रिय सम्वाद॥ ९॥

दूसरों की रुचि को अवलोक।
कही जाती है कितनी बात॥
कहीं पर गतानुगतिक प्रवृत्ति।
निरर्थक करती है उत्पात॥१०॥

लोक-आराधन है नृप-धर्म।
किन्तु इसका यह आशय है न॥
सुनी जाये उनकी भी बात।
जो बला ला पाते हैं चैन॥११॥

प्रजा के सकल - वास्तविक - स्वत्त्व।
व्यक्तिगत उसके सब - अधिकार॥
उसे हैं प्राप्त सुखी हैं सर्व।
सुकृति से कर वैभव - विस्तार॥१२॥

कहीं है कलह न वैर विरोध।
कहाँ पर है धन धरा विवाद॥
तिरस्कृत है कलुषित चितवृत्ति।
त्यक्त है प्रबल - प्रपंच - प्रमाद॥१३॥

सुधा है वहाँ बरसती आज।
जहाँ था बरस रहा अंगार॥
वहाँ है श्रुत स्वर्गीय निनाद।
जहाँ था रोदन हाहाकार॥१४॥

गौरवित है मानव समुदाय।
गिरा का उर में हुए विकास॥
शिवा से है शिवता की प्राप्ति।
रमा का है घर घर में वास॥१५॥

बन गये हैं पारस सब मेरु।
उदधि करते हैं रत्न प्रदान॥
प्रसव करती है वसुधा स्वर्ण।
बन बने हैं नन्दन उद्यान॥१६॥

सुखद - सुविधा से हो सम्पन्न।
सरसता है सरिता का गात॥
बना रहता है पावन वारि।
न करता है प्लावन उत्पात॥१७॥

सदा रह हरे भरे तरु - वृन्द ।
सफल बन करते हैं सत्कार ॥
दिखाते हैं उत्फुल्ल प्रसून ।
वहन कर बहु सौरभ संभार ॥१८॥

लोग इतने हैं सुख - सर्वस्व ।
विकच इतना है चित जलजात ॥
वार हैं बने पर्व के वार ।
रात है दीप - मालिका रात ॥१९॥

हुआ अज्ञान का तिमिर दूर ।
ज्ञान का फैला है आलोक ॥
सुखद है सकल लोक को काल ।
बना अवलोकनीय है ओक ॥२०॥

शान्ति - मय - वातावरण विलोक ।
रुचिर चर्चा है चारों ओर ॥
कीर्त्ति - राका - रजनी को देख ।
विपुल - पुलकित है लोक चकोर ॥२१॥

किन्तु देखे राकेन्दु विकास ।
सुखित कब हो पाता है कोक ॥
फूटती है उलूक की आँख ।
दिव्यता दिनमणि की अवलोक ॥२२॥

जगत जीवनप्रद पावस काल ।
देख जलते हैं अर्क जवास ॥
पल्लवित होते नहीं करील ।
बन लगे सरस - बसंत - बतास ॥२३॥

जगत् ही है विचित्रता धाम।
विविधता विधि की है विख्यात ॥
नहीं तो सुन पाता क्यों कान।
अरुचिकर परम असंगत बात ॥२४॥

निंद्य है रघुकुल तिलक चरित्र।
लांछिता है पवित्रता मूर्त्ति ॥
पूत शासन में कहता कौन।
जो न होती पामरता पूर्त्ति ॥२५॥

आप हैं प्रजा - वृन्द - सर्वस्व।
लोक आराधन के अवतार ॥
लोकहित - पथ - कण्टक के काल।
लोक मर्यादा पारावार ॥२६॥

बन गई देश काल अनुकूल।
प्रगति जितनी थी हित विपरीत ॥
प्रजारंजन की जो है नीति।
वही है आदर सहित गृहीत ॥२७॥

जानते नहीं इसे हैं लोग।
कहा जाता है किसे अभाव ॥
विलसती है घर घर में भूति।
भरा जन - जन में है सद्भाव ॥२८॥

रही जो कण्टक - पूरित राह।
वहाँ अब बिछे हुए हैं फूल ॥
लग गये हैं अब वहाँ रसाल।
जहाँ पहले थे खड़े बबूल ॥२६॥

प्रजा में व्यापी है प्रतिपत्ति।
भर गया है रग रग में ओज॥
शस्य - श्यामला बनी मरु - भूमि।
ऊसरों में हैं खिले सरोज॥३०॥

नहीं पूजित है कोई व्यक्ति।
आज हैं पूजनीय गुण कर्म॥
वही है मान्य जिसे है ज्ञात।
मानसिक पीड़ाओं का मर्म॥३१॥

इसलिये है यह निश्चित बात।
प्रजाजन का यह है न प्रमाद॥
कुछ अधम लोगों ने ही व्यर्थ।
उठाया है यह निन्दावाद॥३२॥

सर्व साधारण में अधिकांश।
हुआ है जन - रव का विस्तार॥
मुख्यतः उन लोगों में जो कि।
नहीं रखते मति पर अधिकार॥३३॥

अन्य जन अथवा जो हैं विज्ञ।
विवेकी हैं या हैं मतिमान॥
जानते हैं जो मन का मर्म।
जिन्हें है धर्म कर्म का ज्ञान॥३४॥

सुने ऐसा असत्य अपवाद।
मूँद लेते हैं अपने कान॥
कथन कर नाना - पूत - प्रसंग।
दूर करते हैं जन अज्ञान॥३५॥

ज्ञात है मुझे न इसका भेद।
कहाँ से, क्यों फैली यह बात ॥
किन्तु मेरा है यह अनुमान।
पतित - मतिका है यह उत्पात ॥३६॥

महानद - सबल - सिंधु के पार।
रहा जो गन्धर्वों का राज ॥
वहाँ था होता महा - अधर्म।
प्रत्यशः सद्धर्मों के व्याज ॥३७॥

कहे जाते थे वे गन्धर्व।
किन्तु थे दानव सदृश दुरंत ॥
न था उनके अवगुण का ओर।
न था अत्याचारों का अन्त ॥३८॥

न रक्षित था उनसे धन धाम।
न लोगों का आचार विचार ॥
न ललनाकुल का सहज सतीत्त्व।
न मानवता का वर व्यवहार ॥३९॥

एक कर में थी ज्वलित मशाल।
दूसरे कर में थी करवाल ॥
एक करता नगरों का दाह।
दूसरा करता भू को लाल ॥४०॥

किये पग - लेहन, हो, कर - बद्ध।
कुजन का होता था प्रतिपाल ॥
सुजन पर बिना किये अपराध।
बलायें दी जाती थीं डाल ॥४१॥

अधमता का उड़ता था केतु।
सदाशयता पाती थी शूल॥
सदाचारी की खिँचती खाल।
कदाचारी पर चढ़ते फूल॥४२॥

राज्य में पूरित था आतंक।
गला कर्त्तन था प्रातः - कृत्य॥
काल बन होता था सर्वत्र।
प्रजा पीड़न का ताण्डव नृत्य॥४३॥

केकयाधिप ने यह अवलोक।
शान्ति के नाना किये प्रयत्न॥
किन्तु वे असफल रहे सदैव।
लुटे उनके भी अनुपम - रत्न॥४४॥

इसलिये हुए वे बहुत क्रुद्ध।
और पकड़ी कठोर तलवार॥
हुआ उसका भीषण परिणाम।
बहुत ही अधिक लोक संहार॥४५॥

छिन गये राज्य हुए भयभीत।
बचे गंधर्वों का संस्थान॥
बन गया है पाञ्चाल प्रदेश।
और यह अन्तर्वेद महान॥४६॥

इस समर का संचालन सूत्र।
हाथ में मेरे था अतएव॥
आप से उसका बहु सम्पर्क।
मानता है उनका अहमेव॥४७॥

अतः यह मेरा है सन्देह।
इस अमूलक जन-रव में गुप्त॥
हाथ उन सब का भी है क्योंकि।
कब हुई हिंसा-वृत्ति विलुप्त॥४८॥

उचित है, है अत्यन्त पुनीत।
लोक आराधन की नृप-नीति॥
किन्तु है सदा उपेक्षा योग्य।
मलिन-मानस की मलिन प्रतीति॥४९॥

भरा जिसमें है कुत्सित भाव।
द्वेष हिंसामय जो है उक्ति॥
मलिन करने को महती-कीर्त्ति।
गढ़ी जाती है जो बहु युक्ति॥५०॥

वह अवांछित है, है दलनीय।
दण्ड्य है दुर्जन का दुर्वाद॥
सदा है उन्मूलन के योग्य।
अमौलिक सकल लोक अपवाद॥५१॥

जो भली है, है भव हित पूर्त्ति।
लोक आराधन सात्विक नीति॥
तो बुरी है, है स्वयं विपत्ति।
लोक-अपवाद-प्रसूत-प्रतीति॥५२॥

फैल कर जन-रव रूपी धूम।
करेगा कैसे उसको म्लान॥
गगन में भूतल में है व्याप्त।
कीर्त्ति जो राका-सिता समान॥५३॥

चौपदे

वड़े भ्राता की बातें सुन।
विलोका रघुकुल-तिलकानन॥
सुमित्रा सुत फिर यों बोले।
हो गया व्याकुल मेरा मन॥५४॥

आपकी भी निन्दा होगी।
समझ मैं इसे नहीं पाता॥
खौलता है मेरा लोहू।
क्रोध से मैं हूँ भर जाता॥५५॥

आह! वह सती पुनीता है।
देवियों सी जिसकी छाया॥
तेज जिसकी पावनता का।
नहीं पावक भी सह पाया॥५६॥

हो सकेगी उसकी कुत्सा।
मैं इसे सोच नहीं सकता॥
खड़े हो गये रोंगटे हैं।
गात भी मेरा है कँपता॥५७॥

यह जगत सदा रहा अंधा।
सत्य को कब इसने देखा॥
खींचता ही वह रहता है।
लांछना की कुत्सित रेखा॥५८॥

आपकी कुत्सा किसी तरह।
सहज ममता है सह पाती॥
पर सुने पूज्या की निन्दा।
आग तन में है लग जाती॥५९॥

सँभल कर वे मुँह को खोलें।
राज्य में है जिनको बसना॥
चाहता है यह मेरा जी।
रजक की खिँचवालूँ रसना॥६०॥

प्रमादी होंगे ही कितने।
मसल मैं उनको सकता हूँ॥
क्यों न बकनेवाले समझें।
बहक कर क्या मैं बकता हूँ॥६१॥

अंध अंधापन से दिव की।
न दिवता कम होगी जौ भर॥
धूल जिसने रवि पर फेंकी।
गिरी वह उसके ही मुँह पर॥६२॥

जलधि का क्या बिगड़ेगा जो।
गरल कुछ अहि उसमें उगलें॥
न होगी सरिता में हलचल।
यदि बहँक कुछ मेंढक उछलें॥६३॥

विपिन कैसे होगा विचलित।
हुए कुछ कुजन्तुओं का डर॥
किये कुछ पशुओं के पशुता।
विकंपित होगा क्यों गिरिवर॥६४॥

धरातल क्यों धृति त्यागेगा।
कुछ कुटिल काकों के रव से॥
गगन तल क्यों विपन्न होगा।
केतु के किसी उपद्रव से॥६५॥

मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं।
पचा दूँ कुजनों की बाई॥
छुड़ा दूँ छील छाल करके।
कुरुचि उरकी कुत्सित काई॥६६॥

कहा रिपुसूदन ने सादर।
जटिलता है बढ़ती जाती॥
बात कुछ ऐसी है जिसको।
नहीं रसना है कह पाती॥६७॥

पर कहूँगा, न कहूँ कैसे।
आपकी आज्ञा है ऐसी॥
बात मथुरा मण्डल की मैं।
सुनाता हूँ वह है जैसी॥६८॥

कुछ दिनों से लवणासुर की।
असुरता है बढ़ती जाती॥
कूटनीतिक उसकी चालें।
गहन हों पर हैं उत्पाती॥६९॥

लोक अपवाद प्रवर्तन में।
अधिक तर है वह रत रहता॥
श्रीमती जनक-नंदिनी को।
काल दनु-कुल का है कहता।७०॥

समझता है यह वह, अब भी।
आप सुन कर उनकी बातें॥
दनुज-दल-विदलन-चिन्ता में।

बिताते हैं अपनी रातें॥७१॥

मान लेना उसका ऐसा।
मलिन-मति की ही है माया॥
सत्य है नहीं, पाप की ही—
पड़ गई है उस पर छाया॥७२॥

किन्तु गन्धर्वों के बध से।
हो गई है दूनी हलचल॥
मिला है यद्यपि उनको भी।
दानवी कृत्यों का ही फल॥७३॥

लवण अपने उद्योगों में।
सफल हो कभी नहीं सकता॥
गये गंधर्व रसातल को।
रहा वह जिनका मुँह तकता॥७४॥

बहाता है अब भी आँसू।
याद कर रावण की बातें॥
पर उसे मिल न सकेंगी अब।
पाप से भरी हुई रातें॥७५॥

राज्य की नीति यथा संभव।
उसे सुचरित्र बनायेगी॥
अन्यथा दुष्प्रवृत्ति उसकी।
कुकर्मों का फल पायेगी॥७६॥

कठिनता यह है दुर्जनता।
मृदुलता से बढ़ जाती है॥
शिष्टता से नीचाशयता।
बनी दुर्दान्त दिखाती है॥७७॥

बिना कुछ दण्ड हुए जड़ की।
कब भला जड़ता जाती है॥
मूढ़ता किसी मूढ़ मन की।
दमन से ही दब पाती है॥७८॥

सत्य के सम्मुख ठहरेगा।
भला कैसे असत्य जन-रव॥
तिमिर सामना करेगा क्यों।
दिवस का, जो है रवि संभव॥७९॥

कीर्ति जो दिव्य ज्योति जैसी।
सकल भूतल में है फैली॥
करेगी भला उसे कैसे।
कालिमा कुत्सा की मैली॥८०॥

बन्धुओं की सब बातें सुन।
सकल प्रस्तुत विषयों को ले॥
समझ, गंभीर गिरा द्वारा।
जानकी-जीवन-धन बोले॥८१॥

राज पद कर्त्तव्यों का पथ।
गहन है, है अशान्ति आलय॥
कान्ति उसमें है दिखलाती।
भरा होता है उसमें भय॥८२॥

इसी से साम-नीति ही को।
बुधों से प्रथम-स्थान मिला॥
यही है वह उद्यान जहाँ।
लोक आराधन सुमन खिला॥८३॥

दमन या दण्ड नीति मुझको।
कभी भी रही नहीं प्यारी।।
न यद्यपि छोड़ सका उनको।
रहे जो इनके अधिकारी।।८४।।

चतुष्पद

रहेगी भव में कैसे शान्ति।
क्रूरता किया करें जो क्रूर।।
तो हुआ लोकाराधन कहाँ।
लोक-कण्टक जो हुये न दूर।।८५।।

लोक-हित संसृति-शान्ति निमित्त।
हुआ यद्यपि दुरन्त-संग्राम।।
किन्तु दशमुख, गन्धर्व-विनाश।
पातकों का ही था परिणाम।।८६।।

है क्षमा-योग्य न अत्याचार।
उचित है दण्डनीय का दण्ड।।
निवारण करना है कर्त्तव्य।
किसी पाषण्डी का पाषण्ड।।८७।।

आर्त्त लोगों का मार्मिक-कष्ट।
बहु-निरपराधों का संहार।।
बाल-वृद्धों का करुण-विलाप।
विवश-जनता का हाहाकार।।८८।।

आहवों में जो हैं अनिवार्य।
मुझे करते हैं व्यथित नितान्त।।
भूल पाये मुझको अब भी न।
लंक के सकल-दृश्य दुःखान्त।।८९।।

अतः है वांछनीय यह नीति।
हो यथा – शक्ति न शोणितपात॥
सामने रहे दृष्टि के साम।
रहे महि - वातावरण प्रशान्त॥६०॥

विप्लवों के प्रशमन की शक्ति।
राज्य को पूर्णतया है प्राप्त॥
धाक उसकी बन शान्ति – निकेत।
सकल - भारत - भू में है व्याप्त॥६१॥

अतः है इसकी आशंका न।
मचायेगी हलचल उत्पात॥
क्यों प्रजा - असंतोष हो दूर।
सोचती है इतनी ही बात॥६२॥

दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भय – मूलक – नीति॥
चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति - प्रतीति॥६३॥

किसी सम्भावित की अपकीर्त्ति।
है रजनि - रंजन - अंक - कलंक॥
किन्तु है बुध - सम्मत यह उक्ति।
कब भला धुला पंक से पंक॥

जनकजा में है दानव – द्रोह।
और मैं उनकी बातें मान॥
कराया करता हूँ अद्यापि।
लोक - संहार कृतान्त समान॥६४॥

यह कथन है सर्वथा असत्य।
और है परम श्रवण-कटु-बात॥
किन्तु उसको करता है पुष्ट।
विपुल गंधर्वों पर पविपात॥९६॥

पठन कर लोकाराधन – मंत्र।
करूँगा मैं इसका प्रतिकार॥
साधकर जनहित – साधन सूत्र।
करूँगा घर घर शान्ति – प्रसार॥९७॥

वन्धु - गण के विचार विज्ञात–
हो गये, सुनीं उक्तियाँ सर्व॥
प्राप्त कर साम - नीति से सिद्धि।
बनेगा पावन जीवन - पर्व॥९८॥

करूँगा बड़े से बड़ा त्याग।
आत्म - निग्रह का कर उपयोग॥
हुए आवश्यक जन - मुख देख।
सहूँगा प्रिया असह्य - वियोग॥९९॥

मुझे यह है पूरा विश्वास।
लोक-हित-साधन में सब काल॥
रहेंगे आप लोग अनुकूल।
धर्म - तत्वों पर आँखें डाल॥१००॥

दोहा

इतना कह अनुजों सहित, त्याग मंत्रणा - धाम।
विश्रामालय में गये, राम - लोक - विश्राम॥१०१॥

चतुर्थ सर्ग

—:⁂:—

वशिष्ठाश्रम

—:—

तिलोकी

अवधपुरी के निकट मनोरम – भूमि में।
एक दिव्य - तम - आश्रम था शुचिता - सदन॥
बड़ी अलौकिक - शान्ति वहाँ थी राजती।
दिखलाता था विपुल - विकच भवका वदन॥१॥

प्रकृति वहाँ थी रुचिर दिखाती सर्वदा।
शीतल - मंद - समीर सतत हो सौरभित॥
बहता था बहु - ललित दिशाओं को बना।
पावन - सात्विक - सुखद - भाव से हो भरित॥२॥

हरी भरी तरु - राजि कान्त - कुसुमालि से।
विलसित रह फल - पुंज - भार से हो नमित॥
शोभित हो मन - नयन - विमोहन दलों से।
दर्शक जन को मुदित बनाती थी अमित॥३॥

रंग बिरंगी अनुपम - कोमलतामयी।
कुसुमावलि थी लसी पूत - सौरभ बसी॥
किसी लोक - सुन्दर की सुन्दरता दिखा।
जी की कली खिलाती थी उसकी हँसी॥४॥

कर उसका रसपान मधुप थे घूमते।
गूँज गूँज कानों को शुचि गाना सुना॥
आ आ कर तितलियाँ उन्हें थीं चूमती।
अनुरंजन का चाव दिखा कर चौगुना॥५॥

कमल-कोष में कभी बद्ध होते न थे।
अंधे बनते थे न पुष्प-रज से भ्रमर॥
काँटे थे छेदते न उनके गात को।
नहीं तितिलियों के पर देते थे कतर॥६॥

लता लहलही लाल लाल दल से लसी।
भरती थी दृग में अनुराग-ललामता॥
श्यामल-दल की बेलि बनाती मुग्ध थी।
दिखा किसी घन-रुचि-तन की शुचि श्यामता॥७॥

वन प्रफुल्ल फल फूल दान में हो निरत।
मंद मंद दोलित हो, वे थीं विलसती॥
प्रातः-कालिक सरस-पवन से हो सुखित।
भू पर मंजुल मुक्तावलि थीं बरसती॥८॥

विहग-वृन्द कर गान कान्त-तम-कंठ से।
विरच विरच कर विपुल-विमोहक टोलियाँ॥
रहे बनाते मुग्ध दिखा तन की छटा।
बोल बोल कर बड़ी अनूठी बोलियाँ॥९॥

काक कुटिलता वहाँ न था करता कभी।
काँ काँ रव कर था न कान को फोड़ता॥
पहुँच वहाँ के शान्त-वात-आवरण में।
हिंसक खग भी हिंसकता था छोड़ता॥१०॥

नाच नाच कर मोर दिखा नीलम - जटित ।
अपने मंजुल - तम पंखों की माधुरी ॥
खेल रहे थे गरल - रहित - अहि - वृन्द से ।
बजा बजा कर पूत - वृत्ति की बाँसुरी ॥११॥

मरकत - मणि - निभ अपनी उत्तम - कान्ति से ।
हरित - तृणावलि थी हृदयों को मोहती ॥
प्रातः - कालिक किरण - मालिका - सूत्र में ।
ओस - विन्दु की मुक्तावलि थी पोहती ॥१२॥

विपुल - पुलकिता नवल - शस्य सी श्यामला ।
वहुत दूर तक दूर्वावलि थी शोभिता ॥
नील - कलेवर - जलधि ललित - लहरी समा ।
मंद - पवन से मंद मंद थी दोलिता ॥१३॥

कल कल रव आकलिता - लसिता - पावनी ।
गगन - विलसिता सुर - सरिता सी सुन्दरी ॥
निर्मल - सलिला लीलामयी लुभावनी ।
आश्रम सम्मुख थी सरसा - सरयू सरी ॥१४॥

परम - दिव्य - देवालय उसके कूल के ।
कान्ति - निकेतन पूत - केतनों को उड़ा ॥
पावनता भरते थे मानस - भाव में ।
पातक - रत को पातक पंजे से छुड़ा ॥१५॥

वेद - ध्वनि से मुखरित वातावरण था ।
स्वर - लहरी स्वर्गिक - विभूति से थी भरी ॥
अति - उदात्त कोमलतामय - आलाप था ।
मंजुल - लय थी हृत्तंत्री झंकृत करी ॥१६॥

धीरे धीरे तिमिर-पुंज था टल रहा।
रवि-स्वागत को उषा-सुन्दरी थी खड़ी ॥
इसी समय सरयू-सरि-सरस-प्रवाह में।
एक दिव्यतम नौका दिखलाई पड़ी ॥१७॥

जब आकर अनुकूल-कूल पर वह लगी।
तब रघुवंश-विभूषण उस पर से उतर ॥
परम-मन्द-गति से चल कर पहुँचे वहाँ।
आश्रम में थे जहाँ राजते ऋषि प्रवर ॥१८॥

रघुनन्दन को वन्दन करते देख कर।
मुनिवर ने उठ उनका अभिनन्दन किया ॥
आशिष दे कर प्रेम सहित पूछी कुशल।
तदुपरान्त आदर से उचितासन दिया ॥१९॥

सौम्य-मूर्त्ति का सौम्य-भाव गंभीर-मुख।
आश्रम का अवलोक शान्त-वातावरण ॥
विनय-मूर्त्ति ने बहुत विनय से यह कहा।
निज-मर्यादित भावों का कर अनुसरण ॥२०॥

आपकी कृपा के बल से सब कुशल है।
सकल-लोक के हित व्रत में मैं हूँ निरत ॥
प्रजा सुखित है शान्तिमयी है मेदिनी।
सहज-नीति रहती है सुकृतिरता सतत ॥२१॥

किन्तु राज्य का संचालन है जटिल-तम।
जगतीतल है विविध-प्रपंचों से भरा ॥
है विचित्रता से जनता परिचालिता।
सदा रह सकी कब सुख का पादप हरा ॥२२॥

इतना कह कर हंस - वंश - अवतंस ने।
दुर्मुख की सब बातें गुरु से कथन कीं॥
पुनः सुनाईं भ्रातृ - वृन्द की उक्तियाँ।
जो हित - पट पर मति-मृदु - कर से थीं अँकी॥२३॥

तदुपरान्त यह कहा दमन वांछित नहीं।
साम - नीति अवलम्बनीय है अब मुझे॥
त्याग करूँ तब बड़े से बड़ा क्यों न मैं।
अंगीकृत है लोकाराधन जब मुझे॥

हैं विदेहजा मूल लोक - अपवाद की।
तो कर दूँ मैं उन्हें न क्यों स्थानान्तरित॥
यद्यपि यह है बड़ी मर्म - वेधी - कथा।
तथा व्यथा है महती - निर्ममता - भरित॥२५॥

किन्तु कसौटी है विपत्ति मनु - सूनु की।
स्वयं कष्ट सह भव - हित - साधन श्रेय है॥
आपत्काल, महत्त्व - परीक्षा - काल है।
संकट में धृति धर्म प्राणता ध्येय है॥२६॥

ध्वंस नगर हों, लुटें लोग, उजड़ें सदन।
गले कटें, उर छिदें, महा - उत्पात हो॥
वृथा मर्म - यातना विपुल - जनता सहे।
बाल वृद्ध वनिता पर वज्र - निपात हो॥२७॥

इन बातों से तो अब उत्तम है यही।
यदि बनती है बात, स्वयं मैं सब सहूँ॥
हो प्रियतमा वियोग, प्रिया व्यथिता बने।
तो भी जन - हित देख अविचलित - चित रहूँ॥२८॥

प्रश्न यही है कहाँ उन्हें मैं भेज दूँ।
जहाँ शान्त उनका दुखमय जीवन रहे ॥
जहाँ मिले वह बल जिसके अवलंब से।
मर्मान्तिक बहु-वेदन जाते हैं सहे ॥२९॥

आप कृपा कर क्या बतलायेंगे मुझे।
वह शुचि-थल जो सब प्रकार उपयुक्त हो ॥
जहाँ बसी हो शान्ति लसी हो दिव्यता।
जो हो भूति-निकेतन भीति-विमुक्त हो ॥३०॥

कभी व्यथित हो कभी वारि दृग में भरे।
कभी हृदय के उद्वेगों का कर दमन ॥
बातें रघुकुल-रवि की गुरुवर नें सुनीं।
कभी धीर गंभीर नितान्त-अधीर बन ॥३१॥

कभी मलिन-तम मुख-मण्डल था दीखता।
उर में बहते थे अशान्ति सोते कभी ॥
कभी संकुचित होता भाल विशाल था।
युगल-नयन विस्फारित होते थे कभी ॥३२॥

कुछ क्षण रह कर मौन कहा गुरुदेव ने।
नृपवर यह संसार स्वार्थ-सर्वस्व है ॥
आत्म-परायणता ही भव में है भरी।
प्राणी को प्रिय प्राण समान निजस्व है ॥३३॥

अपने हित साधन्न की ललकों में पड़े।
अहित लोक लालों के लोगों ने किये ॥
प्राणिमात्र के दुख को भव-परिताप को।
तृण गिनता है मानव निज सुख के लिये ॥३४॥

सभी साँसतें सहें बलाओं में फँसें।
करें लोग विकराल काल का सामना ॥
तो भी होगी नहीं अल्प भी कुण्ठता।
मानव की ममतानुगामिनी कामना ॥३५॥

किसे अनिच्छा प्रिय इच्छाओं से हुई।
वांछाओं के बन्धन में हैं बद्ध सब ॥
अर्थ लोभ से कहाँ अनर्थ हुआ नहीं।
इष्ट सिद्धि के लिये अनिष्ट हुए न कब ॥३६॥

ममता की प्रिय - रुचियाँ वाधायें पड़े।
बन जाती जनता निमित्त हैं ईतियाँ ॥
विबुध - वृन्द की भी गत देती हैं बना।
गौरव - गर्वित - गौरवितों की वृत्तियाँ ॥३७॥

तम - परि - पूरित अमा - यामिनी - अंक में।
नहीं विलसती मिलती है राका - सिता ॥
होती है मति, रहित सात्विकी - नीति से।
स्वत्व - ममत्व महत्ता - सत्ता मोहिता ॥३८॥

किन्तु हुए हैं महि में ऐसे नृमणि भी।
मिली देवतों जैसी जिनमें दिव्यता ॥
जो मानवता तथा महत्ता मूर्त्ति थे।
भरी जिन्होंने भव - भावों में भव्यता ॥३९॥

वैसे ही हैं आप भूतियाँ आप की।
हैं तम - भरिता - भूमि की अलौकिक - विभा ॥
लोक - रंजिनी पूत - कीर्त्ति - कमनीयता।
है सज्जन सरसिज निचिय प्रातः - प्रभा ॥४०॥

वात मुझे लोकापवाद की ज्ञात है।
वह केवल कलुषित चित का उद्गार है॥
या प्रलाप है ऐसे पामर-पुंज का।
अपने उर पर जिन्हें नहीं अधिकार है॥४१॥

होती है सुर-सरिता अपुनीता नहीं।
पाप-परायण के कुत्सित आरोप से॥
होंगी कभी अगौरविता गौरी नहीं।
किन्हीं अन्यथा कुपित जनों के कोप से॥४२॥

रजकण तक को जो करती है दिव्य तम।
वह दिनकर की विश्व-व्यापिनी-दिव्यता॥
हो पायेगी बुरी न अंधों के बके।
कहे उलूकों के न बनेगी निन्दिता॥४३॥

ज्योतिमयी की परम-समुज्ज्वल ज्योति को।
नहीं कलंकित कर पायेगी कालिमा॥
मलिना होगी किसी मलिनता से नहीं।
ऊषादेवी की लोकोत्तर-लालिमा॥४४॥

जो सुकीर्त्ति जन-जन-मानस में है लसी।
जिसके द्वारा धरा हुई है धवलिता॥
सिता-समा जो है दिगंत में व्यापिता।
क्यों होगी वह खल कुत्सा से कलुषिता॥४५॥

जो हलचल लोकापवाद आधार से।
है उत्पन्न हुई, दुरन्त है हो रही॥
उसका उन्मूलन प्रधान-कर्त्तव्य है।
किन्तु आप को दमन-नीति प्रिय है नहीं॥४६॥

यद्यपि इतनी राजशक्ति है बलवती।
कर देगी उसका विनाश वह शीघ्र तम॥
पर यह लोकाराधन-व्रत-प्रतिकूल है।
अतः इष्ट है शान्ति से शमन लोक भ्रम॥४७॥

सामनीति का मैं विरोध कैसे करूँ।
राजनीति को वह करती है गौरवित॥
लोकाराधन ही प्रधान नृप-धर्म है।
किन्तु आपका व्रत विलोक मैं हूँ चकित॥४८॥

त्याग आपका है उदात्त धृति धन्य है।
लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता॥
है अपूर्व आदर्श लोकहित का जनक।
है महान भवदीय नीति-मर्मज्ञता॥४९॥

आप पुरुष हैं नृप व्रत पालन निरत हैं।
पर होवेगी क्या पति प्राणा की दशा॥
आह! क्यों सहेगी वह कोमल हृदय पर।
आपके विरह की लगती निर्मम-कशा॥५०॥

जो हो पर पथ आपका अतुलनीय है।
लोकाराधन की उदार-तम-नीति है॥
आत्मत्याग का बड़ा उच्च उपयोग है।
प्रजा-पुंज की उसमें भरी प्रतीति है॥५१॥

आर्य-जाति की यह चिरकालिक है प्रथा।
गर्भवती प्रिय-पत्नी को प्रायः नृपति॥
कुलपति पावन-आश्रम में हैं भेजते।

हो जिससे सब-मंगल, शिशु हो शुद्धमति॥५२॥

है पुनीत - आश्रम वाल्मीकि - महर्षि का।
पतित - पावनी सुरसरिता के कूल पर॥
वास योग्य मिथिलेश सुता के है वही।
सब प्रकार वह है प्रशान्त है श्रेष्ठतर॥५३॥

वे कुलपति हैं सदाचार - सर्वस्व हैं।
वहाँ वालिका - विद्यालय भी है विशद॥
जिसमें सुरपुर जैसी हैं बहु - देवियाँ।
जिनका शिक्षण शारदा सदृश है वरद॥५४॥

वहाँ ज्ञान के सब साधन उपलब्ध हैं।
सब विषयों के बहु विद्यालय हैं बने॥
दश - सहस्र वर - बटु विलसित वे हैं, वहाँ—
शान्ति वितान प्रकृति देवी के हैं तने॥५५॥

अन्यस्थल में जनक - सुता का भेजना।
संभव है बन जाये भय की कल्पना॥
आपकी महत्ता को समझेंगे न सब।
शंका है, बढ़ जाये जनता - जल्पना॥५६॥

गर्भवती हैं जनक - नन्दिनी इसलिये।
उनका कुलपति के आश्रम में भेजना॥
सकल - प्रपंचों पचड़ों से होगा रहित।
कही जायगी प्रथित - प्रथा - परिपालना॥५७॥

जैसी इच्छा आपकी विदित हुई है।
वाल्मीकाश्रम वैसा पुण्य - स्थान है॥
अतः वहाँ ही विदेहजा को भेजिये।
वह है शान्त, सुरक्षित, सुकृति - निधान है॥५८॥

किन्तु आपसे यह विशेष अनुरोध है।
सब बातें कान्ता को बतला दीजिये॥
स्वयं कहेगी वह पति प्राणा आप से।
लोकाराधन में विलंब मत कीजिये॥५६॥

सती - शिरोमणि पति - परायणा पूत - धी।
वह देवी है दिव्य - भूतियों से भरी॥
है उदारतामयी सुचरिता सद्व्रता।
जनक - सुता है परम - पुनीता सुरसरी॥६०॥

जो हित - साधन होता हो पति - देव का।
पिसे न जनता, जो न तिरस्कृत हों कृती॥
तो संसृति में है वह संकट कौन सा।
जिसे नहीं सह सकती है ललना सती॥६१॥

प्रियतम के अनुराग - राग में रँग गये।
रहती जिसके मंजुल - मुख की लालिमा॥
सिता - समुज्वल उसकी महती कीर्त्ति में।
वह देखेगी कैसे लगती कालिमा॥६२॥

अवलोकेगी अनुत्फुल्ल वह क्यों उसे।
जिस मुख को विकसित विलोकती थी सदा॥
देखेगी वह क्यों पति - जीवन का असुख।
जो उत्सर्गी - कृत - जीवन थी सर्वथा॥६३॥

दोहा

सुन बातें गुरुदेव की, सुखित हुए श्रीराम।
आज्ञा मानी ली विदा, सविनय किया प्रणाम॥६४॥

पंचम सर्ग

—※—

सती सीता

—*—

ताटंक

प्रकृति - सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम - दिव्य बन कान्त - अंक में तारक - चय था चमक रहा ॥
पहन श्वेत - साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले ले सुधा सुधा - कर - कर से वसुधा पर बरसाती थी ॥१॥

नील-नभो मण्डल बन बन कर विविध-अलौकिक-दृश्य निलय।
करता था उत्फुल्ल हृदय को तथा दृगों को कौतुकमय ॥
नीली पीली लाल बैंगनी रंग बिरंगी उडु अवली।
बनी दिखाती थी मनोज्ञ तम छटा - पुंज की केलि - थली ॥२॥

कर फुलझड़ी क्रिया उल्कायें दिवि को दिव्य बनाती थीं।
भरती थीं दिगंत में आभा जगती - ज्योति जगाती थीं ॥
किसे नहीं मोहती, देखने को कब उसे न रुचि ललकी।
उनकी कनक - कान्ति - लीकों से लसी नीलिमा नभ - तल की ॥३॥

जो ज्योतिर्मय बूटों से बहु सज्जित हो था कान्त बना।
अखिल-कलामय कुल लोकों का अति कमनीय वितान तना ॥
दिखा अलौकिकतम - विभूतियाँ चकित चित्त को करता था।
लीलामय की लोकोत्तरता लोक - उरों में भरता था ॥४॥

राका - रजनी अनुरंजित हो जन - मन - रंजन में रत थी।
प्रियतम-रस से सतत सिक्त हो पुलकित ललकित तद्गत थी ॥
ओस-विन्दु से विलस अवनि को मुक्ता माल पिन्हाती थी।
विरच किरीटी गिरि को तरु - दल को रजताभ वनाती थी ॥५॥

राज-भवन की दिव्य-अटा पर खड़ी जनकजा मुग्ध बनी।
देख रही थीं गगन-दिव्यता सिता-विलसिता-सित अवनी ॥
मंद मंद मारुत वहता था रात दो घड़ी बीती थी।
छत पर वैठी चकित - चकोरी सुधा चाव से पीती थी ॥६॥

थी सब ओर शान्ति दिखलाती नियति - नटी नर्तनरत थी।
फूली फिरती थी प्रफुल्लता उत्सुकतातिं तरंगित थी ॥
इसी समय बढ़ गया वायु का वेग, क्षितिज पर दिखलाया—
एक लघु - जलद - खण्ड पूर्व में जो बढ़ वारिद बन पाया ॥७॥

पहले छोटे छोटे घन के खण्ड घूमते दिखलाये।
फिर छायामय कर क्षिति - तल को सारे नभतल में छाये ॥
तारापति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी।
सिता बनी असिता, छिनती दिखलाई उसकी छबि - न्यारी ॥८॥

दिवि - दिव्यता अदिव्य बनी अब नहीं दिग्वधू हँसती थी।
निशा - सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में वसती थी ॥
कभी घन - पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका बदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था ॥९॥

यह परिवर्त्तन देख अचानक जनक - नन्दिनी अकुलाईं।
चल गयंद - गति से अपने कमनीयतम अयन में आईं ॥
उसी समय सामने उन्हें अति - कान्त विधु - बदन दिखलाया।
जिस पर उनको पड़ी मिली चिरकालिक - चिन्ता की छाया ॥१०॥

प्रियतम को आया विलोक आदर कर उनको बैठाला।
इतनी हुईं प्रफुल्ल सुधा का मानों उन्हें मिला प्याला॥
बोलीं क्यों इन दिनों आप इतने चिन्तित दिखलाते हैं।
वैसे खिले सरोज-नयन किसलिये न पाये जाते हैं॥११॥

वह त्रिलोक-मोहिनी-विकचता वह प्रवृत्ति-आमोदमयी।
वह विनोद की वृत्ति सदा जो असमंजस पर हुई जयी॥
वह मानस की महा-सरसता जो रस बरसाती रहती।
वह स्निग्धता सुधा-धारा सी जो वसुधा पर थी बहती॥१२॥

क्यों रह गई न वैसी अब क्यों कुछ बदली दिखलाती है।
क्यों राका की सिता में न पूरी सितता मिल पाती है॥
बड़े बड़े संकट-समयों में जो मुख मलिन न दिखलाया।
अहह किस लिये आज देखती हूँ मैं उसको कुम्हलाया॥१३॥

पड़े बलाओं में जिस पेशानी पर कभी न बल आया।
उसे सिकुड़ता बार बार क्यों देख मम दृगों ने पाया॥
क्यों उद्वेजक-भाव आपके आनन पर दिखलाते हैं।
क्यों मुझको अवलोक आपके दृग सकरुण हो जाते हैं॥१४॥

कुछ विचलित हो अति-अविचल-मति क्यों बलवत्ता खोती है।
क्यों आकुलता महा-धीर-गंभीर हृदय में होती है॥
कैसे तेजः-पुंज सामने किस बल से वह अड़ती है।
कैसे रघुकुल-रवि-आनन पर चिन्ता छाया पड़ती है॥१५॥

देख जनक-तनया का आनन सुन उनकी बातें सारी।
बोल सके कुछ काल तक नहीं अखिल-लोक के हितकारी॥
फिर बोले गंभीर भाव से अहह प्रिये क्या बतलाऊँ।
है सामने कठोर समस्या कैसे भला न घबराऊँ॥१६॥

इतना कह लोकापवाद की सारी बातें बतलाईं।
गुरुतायें अनुभूत उलझनों की भी उनको जतलाईं॥
गन्धर्वों के महा - नाश से प्रजा - वृन्द का कँप जाना।
लवणासुर का गुप्त भाव से प्रायः उनको उकसाना॥१७॥

लोकाराधन में बाधायें खड़ी कर रहा है कैसी।
यह बतला फिर कहा उन्होंने शान्ति - अवस्था है जैसी॥
तदुपरांत बन संयत रघुकुल - पुंगव ने यह बात कही।
जो जन - रव है वह निन्दित है, है वह नहीं कदापि सही॥१८॥

यह अपवाद लगाया जाता है मुझको उत्तेजित कर।
द्रोह - विवश दनुजों का नाश कराने में तुम हो तत्पर॥
इसी सूत्र से कतिपय - कुत्साओं की है कल्पना हुई।
अविवेकी जनता के मुख से निन्दनीय जल्पना हुई॥१९॥

दमन नहीं मुझको वांछित है तुम्हें भी न वह प्यारा है।
सामनीति ही जन अशान्ति - पतिता की सुर - सरि - धारा है॥
लोकाराधन के बल से लोकापवाद को दल दूँगा।
कलुषित - मानस को पावन कर मैं मन वांछित फल लूँगा॥२०॥

इच्छा है कुछ काल के लिये तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति मैं प्रजा - पुंज की भ्रान्ति हरूँ॥
क्यों दूसरे पिसें, संकट में पड़, बहु दुख भोगते रहें।
क्यों न लोक - हित के निमित्त जो सह पायें हम स्वयं सहें॥२१॥

जनक - नन्दिनी ने दृग में आते आँसू को रोक कहा।
प्राणनाथ सब तो सह लूँगी क्यों जायेगा विरह सहा॥
सदा आपका चन्द्रानन अवलोके ही मैं जीती हूँ।
रूप - माधुरी - सुधा तृषित बन चकोरिका सम पीती हूँ॥२२॥

वदन विलोके बिना बावले युगल - नयन बन जायेंगे ।
तार बाँध बहते आँसू का बार - बार घबरायेंगे ॥
मुँह जोहते बीतते बासर रातें सेवा में कटतीं ।
हित - वृत्तियाँ सजग रह पल - पल कभी न थीं पीछे हटतीं ॥२३॥

मिले बिना ऐसा अवसर कैसे मैं समय बिताऊँगी ।
अहह आपको बिना खिलाये मैं कैसे कुछ खाऊँगी ॥
चित्त - विकल हो गये विकलता को क्यों दूर भगाऊँगी ।
थाम कलेजा बार - बार कैसे मन को समझाऊँगी ॥२४॥

क्षमा कीजिये आकुलता में क्या कहते क्या कहा गया ।
नहीं उपस्थित कर सकती हूँ मैं कोई प्रस्ताव नया ॥
अपने दुख की जितनी बातें मैंने हो उद्विग्न कहीं ।
आपको प्रभावित करने का था उनका उद्देश्य नहीं ॥२५॥

वह तो स्वाभाविक - प्रवाह था जो मुँह से बाहर आया ।
आह ! कलेजा हिले कलपता कौन नहीं कब दिखलाया ॥
किन्तु आप के धर्म का न जो परिपालन कर पाऊँगी ।
सहधर्मिणी नाथ की तो मैं कैसे भला कहाऊँगी ॥२६॥

वही करूँगी जो कुछ करने की मुझको आज्ञा होगी ।
'त्याग, करूँगी, इष्ट सिद्धि के लिये बना मन को योगी ॥
सुख - वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुँह मोड़ूँगी ।
लोकाराधन या प्रभु - आराधन निमित्त सब छोड़ूँगी ॥२७॥

भवहित - पथ में क्लेशित होता जो प्रभु - पद को पाऊँगी ।
तो सारे कण्टकित - मार्ग में अपना हृदय बिछाऊँगी ॥
अनुरागिनी लोक - हित की बन सच्ची - शान्ति - रता हूँगी ।
कर अपवर्ग - मंत्र का साधन तुच्छ स्वर्ग को समझूँगी ॥२८॥

यदि कलंकिता हुई कीर्त्ति तो मुँह कैसे दिखलाऊँगी।
जीवनधन पर उत्सर्गित हो जीवन धन्य बनाऊँगी॥
है लोकोत्तर त्याग आपका लोकाराधन है न्यारा।
कैसे संभव है कि वह न हो शिरोधार्य्य मेरे द्वारा॥२९॥

विरह - वेदनाओं से जलती दीपक सम दिखलाऊँगी।
पर आलोक - दान कर कितने उर का तिमिर भगाऊँगी॥
बिना वदन अवलोके आँखें आँसू सदा बहायेंगी।
पर मेरे उत्तप्त चित्त को सरस सदैव बनायेंगी॥३०॥

आकुलतायें बार - बार आ मुझको बहुत सतायेंगी।
किन्तु धर्म - पथ में धृति - धारण का सन्देश सुनायेंगी॥
अन्तस्तल की विविध - वृत्तियाँ बहुधा व्यथित बनायेंगी।
किन्तु वंद्यता विवुध - वृन्द - वन्दित की बतला जायेंगी॥३१॥

लगी लालसायें लालायित हो हो कर कलपायेंगी।
किन्तु कल्पनातीत लोक - हित अवलोके बलि जायेंगी॥
आप जिसे हित समझें उस हित से ही मेरा नाता है।
हैं जीवन - सर्वस्व आप ही मेरे आप विधाता हैं॥३२॥

कहा राम ने प्रिये अब प्रिये कहते कुण्ठित होता हूँ।
अपने सुख - पथ में अपने हाथों मैं काँटे बोता हूँ॥
मैं दुख भोगूँ व्यथा सहूँ इसकी मुझको परवाह नहीं।
पड़ूँ संकटों में कितने निकलेगी मुँह से आह नहीं॥३३॥

किन्तु सोचकर कष्ट तुमारा थाम कलेजा लेता हूँ।
कैसे क्या समझाऊँ जब मैं ही तुमको दुख देता हूँ॥
तो विचित्रता भला कौन है जो प्रायः घबराता हूँ।
अपने हृदय वल्लभा को मैं वन - वासिनी बनाता हूँ॥३४॥

धर्म - परायणता पर - दुख - कातरता विदित तुमारी है।
भवहित-साधन-सलिल-मीनता तुमको अतिशय प्यारी है॥
तुम हो मूर्त्तिमती दयालुता दीन पर द्रवित होती हो।
संसृति के कमनीय क्षेत्र में कर्म - बीज तुम बोती हो॥३५॥

इसीलिये यह निश्चित था अवलोक परिस्थिति हित होगा।
स्थानान्तरित विचार तुमारे द्वारा अनुमोदित होगा॥
वही हुआ, पर विरह - वेदना भय से मैं बहु चिन्तित था।
देख तुमारी प्रेम प्रवणता अति अधीर था शंकित था॥३६॥

किन्तु बात सुन प्रतिक्रिया की सहृदयता से भरी हुई।
उस प्रवृत्ति को शान्ति मिल गई जो थी अयथा डरी हुई॥
तुम विशाल - हृदया हो मानवता है तुम से छवि पाती।
इसीलिये तुम में लोकोत्तर त्याग - वृत्ति है दिखलाती॥३७॥

है प्राचीन पुनीत प्रथा यह मंगल की आकांक्षा से।
सब प्रकार की श्रेय दृष्टि से बालक हित की वांछा से॥
गर्भवती - महिला कुलपति - आश्रम में भेजी जाती है।
यथा - काल संस्कारादिक होने पर वापस आती है॥३८॥

इसी सूत्र से वाल्मीकाश्रम में तुमको मैं भेजूँगा।
किसी को न कुत्सित विचार करने का अवसर मैं दूँगा॥
सब विचार से वह उत्तम है, है अतीव उपयुक्त वही।
यही वशिष्ठ देव अनुमति है शान्तिमयी है नीति यही॥३९॥

तपो - भूमि का शान्त - आवरण परम-शान्ति तुमको देगा।
विरह - जनित - वेदना आदि की अतिशयता को हर लेगा॥
तपस्विनी नारियाँ ऋषिगणों की पत्नियाँ समादर दें।

तुमको सुखित बनायेंगी परिताप शमन का अवसर दे॥४०॥

परम - निरापद जीवन होगा रह महर्षि की छाया में।
धारा सतत रहेगी बहती सत्प्रवृत्ति की काया में॥
विद्यालय की सुधि देवियाँ होंगी सहानुभूतिमयी।
जिससे होती सदा रहेगी विचलित - चित पर शान्ति जयी॥४१॥

जिस दिन तुमको किसी लाल का चन्द्र - बदन दिखलायेगा।
जिस दिन अंक तुमारा रवि - कुल-रंजन से भर जायेगा॥
जिस दिन भाग्य खुलेगा मेरा पुत्र रत्न तुम पाओगी।
उस दिन उर विरहांधकार में कुछ प्रकाश पा जाओगी॥४२॥

प्रजा - पुंज की भ्रान्ति दूर हो, हो अशान्ति का उन्मूलन।
बुरी धारणा का विनाश हो, हो न अन्यथा उत्पीड़न॥
स्थानान्तरित - विधान इसी उद्देश्य से किया जाता है।
अतः आगमन मेरा आश्रम में संगत न दिखाता है॥४३॥

प्रिये इसलिये जब तक पूरी शान्ति नहीं हो जावेगी।
लोकाराधन - नीति न जब तक पूर्ण - सफलता पावेगी॥
रहोगी वहाँ तुम तब तक मैं तब तक वहाँ न आऊँगा।
यह असह्य है, सहन - शक्ति पर मैं तुम से ही पाऊँगा॥४४॥

आज की रुचिर राका - रजनी परम - दिव्य दिखलाती थी।
विहँस रहा था विधु पा उसको सिता मंद मुसकाती थी॥
किन्तु बात की बात में गगन - तल में वारिद घिर आया।
जो था सुन्दर समा सामने उस पर पड़ी मलिन - छाया॥४५॥

पर अब तो मैं देख रहा हूँ भाग रही है घन - माला।
बदले हवा समय ने आकर रजनी का संकट टाला॥
यथा समय आशा है यों ही दूर धर्म - संकट होगा।
मिले [illegible], आतप में सामने खड़ा वर - वट होगा॥४६॥

चौपदे

जिससे अपकीर्त्ति न होवे ।
लोकापवाद से छूटें ॥
जिससे सद्भाव - विरोधी ।
कितने ही बंधन टूटें ॥४७॥

जिससे अशान्ति की ज्वाला ।
प्रज्वलित न होने पावे ॥
जिससे सुनीति - घन - माला ।
घिर शान्ति - वारि बरसावे ॥४८॥

जिससे कि आपकी गरिमा ।
बहु गरीयसी कहलावे ॥
जिससे गौरविता भू हो ।
भव में भवहित भर जावे ॥४९॥

जानकी ने कहा प्रभु मैं ।
उस पथ की पथिका हूँगी ॥
उभरे काँटों में से ही ।
अति - सुन्दर - सुमन चुनूँगी ॥५०॥

पद - पंकज - पोत सहारे ।
संसार - समुद्र तरूँगी ॥
वह क्यों न हो गरलवाला ।
मैं सरस सुधा ही लूँगी ॥५१॥

शुभ - चिन्तकता के बल से ।
क्यों चिन्ता चिता बनेगी ॥
उर - निधि - आकुलता सीपी ।
हित - मोती सदा जनेगी ॥५२॥

प्रभु - चित्त - विमलता सोचे।
धुल जायेगा मल सारा॥
सुरसरिता बन जायेगी।
आँसू की बहती धारा॥५३॥

कर याद दयानिधिता की।
भूलूँगी बातें दुख की॥
उर - तिमिर दूर कर देगी।
रति चन्द - विनिन्दक मुख की॥५४॥

मैं नहीं बनूँगी व्यथिता।
कर सुधि करुणामयता की॥
मम हृदय न होगा विचलित।
अवगति से सहृदयता की॥५५॥

होगी न वृत्ति वह जिससे।
खोऊँ प्रतीति जनता की॥
धृति - हीन न हूँगी समझे।
गति धर्म - धुरंधरता की॥५६॥

कर भव - हित सच्चे जी से।
मुझमें निर्भयता होगी॥
जीवन - धन के जीवन में।
मेरी तन्मयता होगी॥५७॥

दोहा

पति का सारा कथन सुन, कह बातें कथनीय।
रामचन्द्र - मुख - चन्द्र की, बनीं चकोरी सीय॥५८॥

षष्ठ सर्ग

—※—

कातरोक्ति

—※—

पादाकुलक

प्रवहमान प्रातः - समीर था।
उसकी गति में थी मंथरता॥
रजनी - मणिमाला थी टूटी।
पर प्राची थी प्रभा - विरहिता॥ १॥

छोटे छोटे घन के टुकड़े।
घूम रहे थे नभ - मण्डल में॥
मलिना - छाया पतित हुई थी।
प्रायः जल के अन्तस्तल में॥ २॥

कुछ कालोपरान्त कुछ लाली।
काले घन - खंडों ने पाई॥
खड़ी ओट में उनकी ऊषा।
अलस भाव से भरी दिखाई॥ ३॥

अरुण - अरुणिमा देख रही थी।
पर था कुछ परदा सा डाला॥
छिक छिक करके भी क्षिति-तल पर।
फैल रहा था अब उँजियाला॥ ४॥

दिन - मणि निकले तेजोहत से।
रुक रुक करके किरणें फूटीं॥
छूट किसी अवरोधक - कर से।
छिटक छिटक धरती पर टूटीं॥ ५॥

राज - भवन हो गया कलरवित।
बजने लगा वाद्य तोरण पर॥
दिव्य - मन्दिरों को कर मुखरित।
दूर सुन पड़ा वेद - ध्वनि स्वर॥ ६॥

इसी समय मंथर गति से चल।
पहुँची जनकात्मजा वहाँ पर॥
कौशल्या देवी बैठी थीं।
बनी विकलता - मूर्त्ति जहाँ पर॥ ७॥

पग - वन्दन कर जनक - नन्दिनी।
उनके पास बैठ कर बोलीं॥
धीरज धर कर विनत - भाव से।
प्रिय - उक्तियाँ थैलियाँ खोलीं॥ ८॥

कर मंगल - कामना प्रसव की।
जनन - क्रिया की सद्वांछा से॥
सकल - लोक उपकार - परायण।
पुत्र - प्राप्ति की आकांक्षा से॥ ९॥

हैं पतिदेव भेजते मुझको।
वाल्मीक के पुण्याश्रम में॥
दीपक वहाँ बलेगा ऐसा।
जो आलोक करेगा तम में॥१०॥

आज्ञा लेने मैं आई हूँ।
और यह निवेदन है मेरा॥
यह दें आशीर्वाद सदा ही।

रहे सामने दिव्य सवेरा॥११॥

दुख है अब मैं कर न सकूँगी।
कुछ दिन पद - पंकज की सेवा॥
आह प्रति - दिवस मिल न सकेगा।
अब दर्शन मंजुल - तम - मेवा॥१२॥

माता की ममता है मानी।
किस मुँह से क्या सकती हूँ कह॥
पर मेरा मन नहीं मानता।
मेरी विनय इसलिये है यह॥१३॥

मैं प्रति - दिन अपने हाथों से।
सारे व्यंजन रही बनाती॥
पास बैठ कर पंखा झल झल।
प्यार सहित थी उन्हें खिलाती॥१४॥

प्रिय - तम सुख - साधन आराधन–
में थी सारा - दिवस बिताती॥
उनके पुलके रही पुलकती।
उनके कुम्हलाये कुम्हलाती॥१५॥

हैं गुणवती दासियाँ कितनी।
हैं पाचक पाचिका नहीं कम॥
पर है किसी में नहीं मिलती।
जितना वांछनीय है संयम॥१६॥

जरा - जर्जरित स्वयं आप हैं।
है क्षन्तव्य धृष्टता मेरी॥
इतना कह कर जननि आपकी।
केवल दृष्टि इधर है फेरी॥१७॥

कहा श्रीमती कौशल्या ने।
मुझे ज्ञात हैं सारी बातें॥
मंगलमय हो पंथ तुम्हारा।
बनें दिव्य - दिन रंजित - रातें ॥१८॥

पुण्य - कार्य्य है गुरु - निदेश है।
है यह प्रथा प्रशंसनीय - तम॥
कभी न अविहित - कर्म करेगा।
रघुकुल - पुंगव प्रथित - नृपोत्तम ॥१९॥

आश्रम - वास - काल होता है।
कुलपति द्वारा ही अवधारित॥
बरसों का यह काल हुए, क्यों?
मेरे दिन होंगे अतिवाहित ॥२०॥

मंगल - मूलक महत्कार्य है।
है विभूतिमय यह शुभ - यात्रा॥
पूरित इसके अवयव में है।
प्रफुल्लता की पूरी मात्रा ॥२१॥

किन्तु नहीं रोके रुकता है।
आँसू आँखों में है आता॥
समझाती हूँ पर मेरा मन।
मेरी बात नहीं सुन पाता ॥२२॥

तुम्हीं राज - भवनों की श्री हो।
तुमसे वे हैं शोभा पाते॥
तुम्हें लाभ करके विकसित हो।
वे हैं हँसते से दिखलाते ॥२३॥

मंगल - मय हो, पर न किसीको।
यात्रा - समाचार भाता है॥
ऐसी कौन आँख हैं जिसमें।
तुरत नहीं आँसू आता है॥२४॥

गृह में आज यही चर्चा है।
जावेंगी तो कब आवेंगी॥
कौन सुदिन वह होगा जिस दिन।
कृपा - वारि आ बरसावेंगी॥२५॥

हो अनाथ - जन की अवलम्बन।
हृदय बड़ा कोमल पाया है॥
भरी सरलता है रग रग में।
पूत - सुरसरी सी काया है॥२६॥

जब देखा तब हँसते देखा।
क्रोध नहीं तुमको आता है॥
कटु बातें कब मुख से निकलीं।
वचन सुधा - रस बरसाता है॥२७॥

जैसी तुम में पुत्री वैसी।
किस जी में ममता जगती है॥
और को कलपता अवलोके।
कौन यों कलपने लगती है॥२८॥

बिना बुलाये मेरा दुख सुन।
कौन दौड़ती आ जाती थी॥
पास बैठकर कितनी रातें।
जगकर कौन बिता जाती थी॥२९॥

मेरा क्या दासी का दुख भी।
तुम देखने नहीं पाती थीं॥
भगिनी के समान ही उसकी।
सेवा में भी लग जाती थीं॥३०॥

विदा माँगते समय की कही।
विनयमयी तव बातें कहकर॥
रोई बार बार कैकेयी।
बनीं सुमित्रा आँखें निर्झर॥३१॥

उनकी आकुलता अवलोके।
कल्ह रात भर नींद न आई॥
रह रह घबराती हूँ, जी में–
आज भी उदासी है छाई॥३२॥

तुम जितनी हो, कैकेयी को।
है न माण्डवी उतनी प्यारी॥
वधुओं वलित सुमित्रा में भी।
देखी ममता अधिक तुमारी॥३३॥

फिर जिसकी आँखों की पुतली।
लकुटी जिस वृद्धा के कर की॥
छिनेगी न कैसे वह कलपे।
छाया रही न जिसके सिर की॥३४॥

जिसकी हृदय-वल्लभा तुम हो।
जो तुमको पलकों पर रखता॥
प्रीति-कसौटी पर कस जो है।
पावन प्रेम सुवर्ण परखता॥३५॥

जिसका पत्नी - व्रत प्रसिद्ध है ।
जो है पावन - चरित कहाता ।।
देख तुमारा अरविन्दानन ।
जो है विकच - वदन दिखलाता ।।३६।।

जिसकी सुख - सर्वस्व तुम्हीं हो ।
जिसकी हो आनन्द - विधाता ।।
जिसकी तुम हो शक्ति - स्वरूपा ।
जो तुम से पौरुष है पाता ।।३७।।

जिसकी सिद्धि - दायिनी तुम हो ।
तुम सच्ची गृहिणी हो जिसकी ।।
सब तन मन धन अर्पण कर भी ।
अब तक बनी ऋणी हो जिसकी ।।३८।।

अरुचिर कुटिल - नीति से ऊबे ।
जिसको तुम पुलकित करती हो ।।
जिसके विचलित-चिन्तित-चित में ।
चारु - चित्तता तुम भरती हो ।।३९।।

कैसे काल कटेगा उसका ।
उसको क्यों न वेदना होगी ।।
होते हृदय मनुज - तन - धर वह ।
बन पायेगा क्यों न वियोगी ।।४०।।

रघुनन्दन है धीर - धुरंधर ।
धर्म प्राण है भव - हित - रत है ।।
लोकाराधन में है तत्पर ।
सत्य - संध है सत्य - व्रत है ।।४१।।

नीति निपुण है न्याय - निरत है ।
परम - उदार महान - हृदय है ।।
पर उसको भी गूढ़ समस्या ।
विचलित करती यथा समय है ।।४२।।

ऐसे अवसर पर सहायता ।
सच्ची वह तुमसे पाता था ।।
मंद मंद बहते मारुत से ।
घिरा घन - पटल टल जाता था ।।४३।।

है विपत्ति - निधि - पोत - स्वरूपा ।
सहकारिणी सिद्धियों की है ।।
है पत्नी केवल न गेहिनी ।
सहधर्मिणी मंत्रिणी भी है ।।४४।।

खान पान सेवा की बातें ।
कह तुमने है मुझे रुलाया ।।
अपनी व्यथा कहूँ मैं कैसे ।
आह कलेजा मुँह को आया ।।४५।।

जिस दिन सुत ने आ प्रफुल्ल हो ।
आश्रम - वास - प्रसंग सुनाया ।।
उस दिन उस प्रफुल्लता में भी ।
मुझको मिली व्यथा की छाया ।।४६।।

मिले चतुर्दश - वत्सर का वन ।
राज्य श्री की हुए विमुखता ।।
कान्ति - विहीन न जो हो पाया ।
दूर हुई जिसकी न विकचता ।।४७।।

क्यों वह मुख जैसा कि चाहिये ।
वैसा नहीं प्रफुल्ल दिखाता ।।
तेज-वन्त-रवि के सम्मुख क्यों ।
है रज-पुंज कभी आ जाता ।।४८।।

आत्मत्याग का बल है सुत को ।
उसकी सहन-शक्ति है न्यारी ।।
वह परार्थ-अर्पित-जीवन है ।
है रघुकुल-मुख-उज्वलकारी ।।४९।।

है मम-कातरोक्ति स्वाभाविक ।
व्यथित हृदय का आश्वासन है ।।
शिरोधार्य्य गुरु-देवाज्ञा है ।
मांगलिक सुअन-अनुशासन है ।।५०।।

रोला

जाओ पुत्री परम-पूज्य पति-पथ पहचानो ।
जाओ अनुपम-कीर्त्ति वितान जगत में तानो ।।
जाओ रह पुण्याश्रम में वांछित फल पाओ ।
पुत्र-रत्न कर प्रसव वंश को वंद्य बनाओ ।।५१।।

जाओ मुनि-पुंगव-प्रभाव की प्रभा बढ़ाओ ।
जाओ परम-पुनीत-प्रथा की ध्वजा उड़ाओ ।।
जाओ आकर यथा-शीघ्र उर-तिमिर भगाओ ।
निज-विधु-वदन समेत लाल-विधु-वदन दिखाओ ।।५२।।

इतना कह कर मौन हुईं कौशल्या माता ।
किन्तु युगल-नयनों से उनके था जल जाता ।।
विविध-सान्त्वना-वचन कहे प्रकृतिस्थ हुईं जब ।
पग-वन्दन कर जनक-नन्दिनी विदा हुईं तब ।।५३।।

सखी

जब घर आई तब देखा।
बहनें आकर हैं बैठी॥
हैं खिन्न मना दुख-मग्ना।
उद्वेगांबुधि में पैठी॥५४॥

देखते माण्डवी बोली।
क्या सुनती हूँ मैं जीजी॥
वह निठुर बनेगी कैसे।
जो रही सदैव पसीजी॥५५॥

तुम कहाँ चली जाती हो।
क्यों किसी को न बतलाया॥
इतनी कठोरता करके।
क्यों सब को बहुत रुलाया॥५६॥

हम सब भी साथ चलेंगी।
सेवायें सभी करेंगी॥
पर घर पर बैठी रह कर।
नित आहें नहीं भरेंगी॥५७॥

वाल्मीकाश्रम में जाकर।
कब तक तुम वहाँ रहोगी॥
यह ज्ञात नहीं तुमको भी।
कुछ कैसे भला कहोगी॥५८॥

दस पाँच बरस तक तुमको।
जो रहना पड़ जायेगा॥
'विच्छेद' बलायें कितनी।
हम लोगों पर लायेगा॥५९॥

कर अनुगामिता तुमारी।
सुखमय है सदन हमारा॥
कलुषित-उर में भी बहती–
रहती है सुर-सरि-धारा॥६०॥

जो उलझन सम्मुख आई।
उसको तुमने सुलझाया॥
जो ग्रंथि न खुलती, उसको–
तुमने ही खोल दिखाया॥६१॥

अवलोक तुमारा आनन।
है शान्ति चित्त में होती॥
हृदयों में बीज सुरुचि का।
है सूक्ति तुमारी बोती॥६२॥

स्वाभाविक स्नेह तुमारा।
भव-जीव-मात्र है पाता॥
कर भला तुमारा मानस।
है विकच-कुसुम बन जाता॥६३॥

प्रति दिवस तुमारा दर्शन।
देवता-सदृश थीं करती॥
अवलोक-दिव्य-मुख-आभा।
निज हृदय-तिमिर थीं हरती॥६४॥

अब रहेगा न यह अवसर।
सुविधा दूरीकृत होगी॥
विनता बहनों की विनती।
आशा है स्वीकृत होगी॥६५॥

माण्डवी का कथन सुन कर।
मुख पर विलोक दुख-छाया॥
बोली विदेहजा धीरे।
नयनों में जल था आया॥६६॥

जर्जरित-गात अति-वृद्धा।
हैं तीन तीन माताएँ॥
हैं जिन्हें घेरती रहती।
आ आ कर दुश्चिन्तायें॥६७॥

है सुख-मय रात न होती।
दिन में है चैन न आता॥
दुर्बलता-जनित-उपद्रव।
प्रायः है जिन्हें सताता॥६८॥

मेरी यात्रा से अतिशय।
आकुल वे हैं दिखलाती।
हैं कभी कराहा करती।
हैं आँसू कभी बहाती॥६९॥

बहनो उनकी सेवा तज।
क्या उचित है कहीं जाना॥
तुम लोग स्वयं यह समझो।
है धर्म उन्हें कलपाना?॥७०॥

है मुख्य-धर्म पत्नी का।
पति-पद-पंकज की अर्चा॥
जो स्वयं पति-रता होवे।
क्या उससे इसकी चर्चा॥७१॥

पर एक बात कहती हूँ।
उसके मर्मों को छूलो॥
निज - प्रीति - प्रपंचों में पड़।
पति - पद सेवा मत भूलो॥७२॥

अन्य स्त्री 'जा, न सकी यह।
है पूत - प्रथा बतलाती॥
नृप - गर्भवती - पत्नी ही।
ऋषि - आश्रम में है जाती॥७३॥

अतएव सुनो प्रिय बहनो।
क्यों मेरे साथ चलोगी॥
कर अपने कर्तव्यों को।
कल - कीर्त्ति लोक में लोगी॥७४॥

है मृदु तुम लोगों का उर।
है उसमें प्यार छलकता॥
मुझ से लालित पालित हो।
है मेरी ओर ललकता॥७५॥

जैसा ही मेरा हित है।
तुम लोगों को अति - प्यारा॥
वैसी ही मेरे उर में।
बहती है हित की धारा॥७६॥

तुम लोगों का पावन - तम।
अनुराग - राग अवलोके॥
है हृदय हमारा गलता।
आँसू रुक पाया रोके॥७७॥

क्यों तुम लोगों को बहनो।
मैं रो रो अधिक रुलाऊँ॥
क्यों आहें भर भर करके।
पत्थर को भी पिघलाऊँ॥७८॥

इस जल-प्रवाह को हमको।
तुम लोगों को संयत रह॥
सद्बुद्धि बाँध के द्वारा।
रोकना पड़ेगा सब सह॥७९॥

दस पाँच बरस आश्रम में।
मैं रहूँ या रहूँ कुछ दिन॥
तुम लोग क्या करोगी इन।
आश्रम के दिवसों को गिन॥८०॥

जैसी कि परिस्थिति होगी।
वह टलेगी नहीं टाले॥
भोगना पड़ेगा उसको।
क्या होगा कंधा डाले॥८१॥

मांडवी कहो क्या तुमने।
यौवन-सुख को कर स्वाहा॥
पति-ब्रह्मचर्य्य को चौदह-
सालों तक नहीं निबाहा॥८२॥

इस खिन्न उर्मिला ने है।
जो सहन-शक्ति दिखलाई॥
जिसकी सुध आते, मेरा-
दिल हिला आँख भर आई॥८३॥

क्या वह हम लोगों को है।
धूर्त्ति - महिमा नहीं बताती ॥
क्या सत्प्रवृत्ति की शिक्षा।
है सभी को न दे जाती ॥८४॥

आँसू आयेंगे आवें।
पर सींच सुकृत - तरु - जावें ॥
तो उनमें पर - हित द्युति हो।
जो बूँद बने दिखलावें ॥८५॥

श्रुतिकीर्त्ति मांडवी जैसी।
महनीय - कीर्त्ति तू भी हो ॥
मत बिचल समझ मधु - मारुत।
चल रही अगर लू भी हो ॥८६॥

उर्मिला सदृश तुझ में भी।
वसुधावलम्बिनी - धृति हो ॥
जिससे भव - हित हो ऐसी।
तीनों बहनों की कृति हो ॥८७॥

मत रोना भूल न जाना।
कुल - मंगल सदा मनाना ॥
कर पूत - साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना ॥८८॥

दोहा

इसी समय आये वहाँ, धीर - वीर - रघुबीर।
बहनें विदा हुईं बरस, नयनों से बहु - नीर ॥८९॥

सप्तम सर्ग

—※—

मंगल यात्रा

—*—

मत्तसमक

अवध पुरी आज सज्जिता है।
बनी हुई दिव्य - सुन्दरी है ॥
विहँस रही है विकास पाकर।
अटा अटा में छटा भरी है ॥१॥

दमक रहा है नगर, नागरिक -
प्रवाह में मोद के वहे हैं ॥
गली गली है गई सँवारी।
चमक रहे चारु चौरहे हैं ॥२॥

बना राज - पथ परम - रुचिर है।
विसुग्ध है स्वच्छता वनाती ॥
विभूति उसकी विचित्रता से।
विचित्र है रंगतें दिखाती ॥३॥

सजल - कलस कान्त - पल्लवों से।
वने हुए द्वार थे फवीले ॥
सु-छवि मिले छवि-निकेतनों की।
हुए सभी - सद्म थे छबीले ॥४॥

खिले हुए फूल से लसे थल।
ललामता को लुभा रहे थे॥
सुतोरणों के हरे-भरे-दल।
हरा भरा चित बना रहे थे॥ ५॥

गड़े हुए स्तंभ कदलियों के।
दलावली छबि दिखा रहे थे॥
सुदृश्य-सौंदर्य्य-पट्टिका पर।
सुकीर्त्ति अपनी लिखा रहे थे॥ ६॥

प्रदीप जो थे लसे कलस पर।
मिली उन्हें भूरि दिव्यता थी॥
पसार कर रवि उन्हें परसता।
उन्हें चूमती दिवा-विभा थी॥ ७॥

नगर गृहों मंदिरों मठों पर।
लगी हुई सज्जिता ध्वजायें॥
समीर से केलि कर रही थीं।
उठा उठा भूयसी भुजायें॥ ८॥

सजे हुए राज-मन्दिरों पर।
लगी पताका विलस रही थी॥
जटित रत्नचय विकास के मिस।
चुरा चुरा चित्त हँस रही थी॥ ९॥

न तोरणों पर न मञ्च पर ही।
अनेक-वादित्र बज रहे थे॥
जहाँ तहाँ उच्च-भूमि पर भी।
नवल-नगारे गरज रहे थे॥ १०॥

न गेह में ही कुलांगनायें।
अपूर्व कल-कंठता दिखातीं॥
कहीं कहीं अन्य-गायिका भी।
बड़ा-मधुर गान थी सुनाती॥११॥

अनेक-मैदान मंजु बन कर।
अपूर्व थे मंजुता दिखाते॥
सजावटों से अतीव सज कर।
किसे नहीं मुग्ध थे बनाते॥१२॥

तने रहे जो वितान उनमें।
विचित्र उनकी विभूतियाँ थीं॥
सदैव उनमें सुगायकों की।
विराजती मंजु-मूर्त्तियाँ थीं॥१३॥

बनी ठनी थीं समस्त-नावें।
विनोद-मग्ना सरयू-सरी थी॥
प्रवाह में वीचि मध्य मोहक-
उमंग की मत्तता भरी थी॥१४॥

हरे-भरे तरु-समूह से हो।
समस्त उद्यान थे विलसते॥
लसी लता से ललामता ले।
विकच-कुसुम-व्याज थे विहँसते॥१५॥

मनोज्ञ मोहक पवित्रतामय।
बने विबुध के विधान से थे॥
समस्त-देवायतन अधिकतर।
स्वरित बने सामगान से थे॥१६॥

प्रमोद से मत्त आज सब थे।
न पा सका कौन-कंठ पिकता॥
सकल नगर मध्य व्यापिता थी।
मनोमयी मंजु मांगलिकता॥१७॥

दिनेश अनुराग-राग में रँग।
नभांक में जगमगा रहे थे॥
उमंग में भर विहंग तरु पर।
बड़े-मधुर गीत गा रहे थे॥१८॥

इसी समय दिव्य-राज-मन्दिर।
ध्वनित हुआ वेद-मंत्र द्वारा॥
हुईं सकल-मांगलिक क्रियायें।
बही रगों में पुनीत-धारा॥१९॥

क्रियान्त में चल गयंद-गति से।
विदेहजा द्वार पर पधारीं॥
बजी बधाई मधुर स्वरों से।
सुकीर्त्ति ने आरती उतारी॥२०॥

खड़ा हुआ सामने सुरथ था।
सजा हुआ देवयान जैसा॥
उसे संती ने विलोक सोचा।
प्रयाण में अब विलम्ब कैसा॥२१॥

वशिष्ठ देवादि को विनय से।
प्रणाम कर कान्त पास आईं॥
इसी समय नन्दिनी जनक की।
अतीव विह्वल हुईं दिखाईं॥२२॥

परन्तु तत्काल ही सँभल कर।
निदेश माँगा विनम्र बन के॥
परन्तु करते पदाब्ज - वन्दन।
विविध बने भाव वर - वदन के॥२३॥

कमल - नयन राम ने कमल से–
मृदुल करों से पकड़ प्रिया - कर॥
दिखा हृदय - प्रेम की प्रवणता।
उन्हें बिठाला मनोज्ञ रथ पर॥२४॥

उचित जगह पर विदेहजा को।
विराजती जब विलोक पाया॥
सवार सौमित्र भी हुए तब।
सुमित्र ने यान को चलाया॥२५॥

बजे मधुर - वाद्य तोरणों पर।
सुगान होता हुआ सुनाया॥
हुए विविध मंगलाचरण भी।
सजल - कलस सामने दिखाया॥२६॥

निकल सकल राज - तोरणों से।
पहुँच गया यान जब वहाँ पर॥
जहाँ खड़ी थी अपार - जनता।
सजी सड़क पर प्रफुल्ल होकर॥२७॥

बड़ी हुई तब प्रसून - वर्षा।
पतिव्रता जय गई बुलाई॥
सविधि गई आरती उतारी।
बड़ी धूम से बजी बधाई॥२८॥

खड़ी द्वार पर कुलांगनायें।
रहीं मांगलिक-गान सुनाती॥
विनम्र हो हो पसार अञ्चल।
रहीं राजकुल कुशल मनाती॥२९॥

शनैः शनैः मंजुराज-पथ पर।
चला जा रहा था मनोज्ञ रथ॥
अजस्र जयनाद हो रहा था।
बरस रहा फूल था यथातथ॥३०॥

निमग्न आनन्द में नगर था।
बनीं सुमनमय अनेक-सड़कें॥
थके न कर आरती उतारे।
दिखे दिव्यता थकीं न ललकें॥३१॥

नगर हुआ जब समाप्त सिय ने।
तुरन्त सौमित्र को विलोका॥
सुमित्र ने भाव को समझकर।
सँभाल ली रास यान रोका॥३२॥

उतर सुमित्रा-कुमार रथ से।
अपार-जनता समीप आये॥
कहा कृपा है महान जो यों।
कृपाधिकारी गये बनाये॥३३॥

अनुष्ठिता मांगलिक सुयात्रा।
भला न क्यों सिद्धि को बरेगी॥
समस्त-जनता प्रफुल्ल हो जो।
अपूर्व-शुभ-कामना करेगी॥३४॥

कृपा दिखा आप लोग आये।
कुशल मनाया, हितैषिता की॥
विविध मांगलिक-विधान द्वारा।
समर्चना की दिवांगना की॥३५॥

हुई कृतज्ञा-अतीव आर्य्या।
विशेष हैं धन्यवाद देती॥
विनय यही है बढ़ें न आगे।
विराम क्यों है ललक न लेती॥३६॥

बहुत दूर आ गये ठहरिये।
न कीजिये आप लोग अब श्रम॥
सुखित न होंगी कदापि आर्य्या।
न जायँगे आप लोग जो थम॥३७॥

कृपा करें आप लोग जायें।
विनम्र हो ईश से मनावें॥
प्रसव करें पुत्र-रत्न आर्य्या।
मयंक नभ-अंक में उगावें॥३८॥

सुने सुमित्रा-कुमार बातें।
दिशा हुई जय-निनाद भरिता॥
बही उरों में सकल-जनों के।
तरंगिता बन विनोद-सरिता॥३९॥

पुनः सुनाई पड़ा राजकुल।
सदा कमल सा खिला दिखावे॥
यथा-शीघ्र फिर अवध धाम में।
वन्दनीयतम-पद पड़ पावे॥४०॥

चला वेग से अपूर्व स्यंदन।
चली गई यत्र तत्र जनता॥
विचार-मग्ना हुई जनकजा।
बड़ी विषम थी विषय-गहनता॥४१॥

कभी सुमित्रा-सुअन ऊबकर।
वदन जनकजा का विलोकते॥
कभी दिखाते नितान्त-चिन्तित।
कभी विलोचन-वारि रोकते॥४२॥

चला जा रहा दिव्य यान था।
अजस्र था टाप-रव सुनाता॥
सकल-घंटियाँ निनाद रत थीं।
कभी चक्र घर्घरित जनाता॥४३॥

हरे भरे खेत सामने आ।
भभर, रहे भागते जनाते॥
विविध रम्य आराम भूरि-तरु।
पंक्ति-बद्ध थे खड़े दिखाते॥४४॥

कहीं पास के जलाशयों से।
विहंग उड़ प्राण थे बचाते॥
लगा लगा व्योम-मध्य चक्कर।
अतीव-कोलाहल थे मचाते॥४५॥

कहीं चर रहे पशु विलोक रथ।
चौंक चौंक कर थे घबराते॥
उठा उठा कर स्वकीय पूँछें।
इधर उधर दौड़ते दिखाते॥४६॥

कभी पथ - गता ग्राम - नारियाँ ।
गयंद - गतिता रहीं दिखाती ।।
रथाधिरूढ़ा कुलांगना की ।
विमुग्ध वर - मूर्त्ति थी बनाती ।।४७।।

कनक-कान्ति, कोशल-कुमार का ।
दिव्य - रूप सौंदर्य्य - निकेतन ।।
विलोक किस पांथ का न बनता ।
प्रफुल्ल अंभोज सा विकच मन ।।४८।।

अधीर - सौमित्र को विलोके ।
कहा धीर - धर धरांगजा ने ।।
बड़ी व्यथा हो रही मुझे है ।
अवश्य है जी नहीं ठिकाने ।।४९।।

परन्तु कर्त्तव्य है न भूला ।
कभी उसे भूल मैं न दूँगी ।।
नहीं सकी मैं निबाह निज व्रत ।
कभी नहीं यह कलंक लूँगी ।।५०।।

विषम समस्या सदन विश्व है ।
विचित्र है सृष्टि कृत्य सारा ।।
तथापि विष - कंठ - शीश पर है ।
प्रवाहिता स्वर्ग - वारि - धारा ।।५१।।

राहु केतु हैं जहाँ व्योम में ।
जिन्हें पाप ही पसंद आया ।।
वहीं दिखाती सुधांशुता है ।
वहीं सहस्रांशु जगमगाया ।।५२।।

द्रवण शील है स्नेह सिंधु है।
हृदय सरस से सरस दिखाया॥
परन्तु है त्याग-शील भी वह।
उसे न कब पूत-भाव भाया॥५३॥

स्वलाभ तज लोक-लाभ-साधन।
विपत्ति में भी प्रफुल्ल रहना॥
परार्थ करना न स्वार्थ-चिन्ता।
स्वधर्म-रक्षार्थ क्लेश सहना॥५४॥

मनुष्यता है करणीय कृत्य है।
अपूर्व-नैतिकता का विलास है॥
प्रयास है भौतिकता विनाश का।
नरत्व-उन्मेष-क्रिया-विकास है॥५५॥

विचार पतिदेव का यही है।
उन्हें यही नीति है रिझाती॥
अशान्त भव में यही रही है।
सदा शान्ति का स्रोत बहाती॥५६॥

उसे भला भूल क्यों सकूँगी।
यही ध्येय आजन्म रहा है॥
परम-धन्य है वह पुनीत थल।
जहाँ सुरसरी सलिल बहा है॥५७॥

विलोक आँखें मयंक-मुख को।
रहीं सुधा-पान नित्य करती॥
बनी चकोरी अतृप्त रहकर।
रहीं प्रचुर-चाव साथ भरती॥५८॥

किसी दिवस यदि न देख पातीं।
अपार आकुल बनीं दिखातीं॥
विलोकतीं पंथ उत्सुका हो।
ललक ललक काल थीं बिताती॥५६॥

बहा बहा वारि जो विरह में।
बनें ए नयन वारिवाह से॥
बार बार बहु व्यथित हुए, जो।
हृदय विकम्पित रहे आह से॥६०॥

विचित्रता तो भला कौन है।
स्वभाव का यह स्वभाव ही है॥
कब न वारि बरसे पयोद बन।
समुद्र की ओर सरि बही है॥६१॥

वियोग का काल है अनिश्चित।
व्यथा - कथा वेदनामयी है॥
बहु - गुणावली रूप - माधुरी।
रोम रोम में रमी हुई है॥६२॥

अतः रहूँगी वियोगिनी मैं।
नेत्र वारि के मीन बनेंगे॥
किन्तु दृष्टि रख लोक - लाभ पर।
सुकीर्त्ति - मुक्तावली जनेंगे॥६३॥

सरस सुधा सी भरी उक्ति के।
नितान्त - लोलुप श्रवण रहेंगे॥
किन्तु चाव से उसे सुनेंगे।
भले - भाव जो भली कहेंगे॥६४॥

हृदय हमारा व्यथित बनेगा।
स्वभावतः वेदना सहेगा॥
अतीव - आतुर दिखा पड़ेगा।
नितान्त - उत्सुक कभी रहेगा॥६५॥

कभी आह आँधियाँ उठेंगी।
कभी विकलता - घटा घिरेगी॥
दिखा चमक चौंक - व्याज उसमें।
कभी कुचिन्ता - चपला फिरेगी॥६६॥

परन्तु होगा न वह प्रवंचित।
कदापि गन्तव्य पुण्य - पथ से॥
कभी नहीं भ्रान्त हो गिरेगा।
स्वधर्म - आधार दिव्य रथ से॥६७॥

सदा करेगा हित सर्व - भूत का।
न लोक आराधन को तजेगा॥
प्रणय - मूर्त्ति के लिये मुग्ध हो।
आर्त्त - चित्त आरती सजेगा॥६८॥

अवश्य सुख वासना मनुज को।
सदा अधिक भ्रान्त है बनाती॥
पड़े स्वार्थ - अंधता तिमिर में।
न लोक हित - मूर्त्ति है दिखाती॥६९॥

कहाँ हुआ है उबार किसका।
सदा सभी की हुई हार है॥
अपार - संसार वारिनिधि में।
आत्मसुख भँवर दुर्निवार है॥७०॥

बड़े वड़े पूज्य - जन जिन्होंने ।
गिना स्वार्थ को सदैव सिकता ॥
न रोक पाये प्रकृति प्रकृति को ।
न त्याग पाये स्वाभाविकता ॥७१॥

चौपदे

मैं अबला हूँ आत्मसुखों की ।
प्रबल लालसायें प्रतिदिन आ ॥
मुझे सताती रहती हैं जो ।
तो इसमें है विचित्रता क्या ॥७२॥

किन्तु सुनो सुत जिस पति-पद की ।
पूजा कर मैंने यह जाना ॥
आत्मसुखों से आत्मत्याग ही ।
सुफलद अधिक गया है माना ॥७३॥

उसी पूत - पद - पोत सहारे ।
विरह - उदधि को पार करूँगी ॥
विधु - सुन्दर वर - वदन ध्यान कर ।
सारा अंतर - तिमिर हरूँगी ॥७४॥

सर्वोत्तम साधन है उर में ।
भव - हित पूत - भाव का भरना ॥
स्वाभाविक - सुख - लिप्साओं को ।
विश्व - प्रेम में परिणत करना ॥७५॥

दोहा

इतना सुन सौमित्र की दूर हुई दुख - दाह ।
देखा सिय ने सामने सरि - गोमती - प्रवाह ॥७६॥

—:*:—

अष्टम सर्ग

—++—

आश्रम प्रवेश

—*—

तिलोकी

था प्रभात का काल गगन - तल लाल था।
अवनी थी अति - ललित - लालिमा से लसी॥
कानन के हरिताभ - दलों की कालिमा।
जाती थी अरुणाभ - कसौटी पर कसी॥ १॥

ऊँचे ऊँचे विपुल - शाल - तरु शिर उठा।
गगन - पथिक का पंथ देखते थे अड़े॥
हिला हिला निज शिखा - पताका - मंजुला।
भक्ति - भाव से कुसुमाञ्जलि ले थे खड़े॥ २॥

कीचक की अति - मधुर - मुरलिका थी बजी।
अहि - समूह बन मत्त उसे था सुन रहा॥
नर्त्तन - रत थे मोर अतीव - विमुग्ध हो।
रस - निमित्त अलि कुसुमावलि था चुन रहा॥ ३॥

जहाँ तहाँ मृग खड़े स्वभोले नयन से-
समय मनोहर - दृश्य रहे अवलोकते ॥
अलस - भाव से विलस तोड़ते अंग थे ।
भरते रहे छलाँग जब कभी चौंकते ॥ ४ ॥

परम - गहन - वन या गिरि - गह्वर - गर्भ में ।
भाग भाग कर तिमिर - पुंज था छिप रहा ॥
प्रभा प्रभावित थी प्रभात को कर रही ।
रवि - प्रदीप्त कर से दिशांक था लिप रहा ॥ ५ ॥

दिव्य बने थे आलिंगन कर अंशु का ।
हिल तरु - दल जाते थे मुक्तावलि बरस ॥
विहग - वृन्द की केलि - कला कमनीय थी ।
उनका स्वागत - गान बड़ा ही था सरस ॥ ६ ॥

शीतल - मंद - समीर वर - सुरभि कर वहन ।
शान्त - तपोवन - आश्रम में था वह रहा ॥
बहु - संयत बन भर भर पावन - भाव से ।
प्रकृति कान में शान्ति बात था कह रहा ॥ ७ ॥

जो किरणें तरु - उच्च - शिखा पर थीं लसी ।
ललित - लताओं को अब वे थीं चूमती ॥
खिले हुए नाना - प्रसून से गले मिल ।
हरित - तृणावलि में हँस हँस थीं घूमती ॥ ८ ॥

मन्द - मन्द गति से गयंद चल चल कहीं ।
प्रिय - कलभों के साथ केलि में लग्न थे ॥
मृग - शावक थे सिंह - सुअन से खेलते ।
उछल कूद में रत कपि मोद - निमग्न थे ॥ ९ ॥

आश्रम - मन्दिर - कलश अन्य-रवि-बिम्ब बन।
अद्भुत - विभा - विभूति से विलस था रहा॥
दिव्य - आयतन में उसके कढ़ कण्ठ से।
वेद - पाठ स्वर सुधा स्रोत सा था बहा॥१०॥

प्रातः - कालिक - क्रिया की मची धूम थी।
जन्हु - नन्दिनी के पावनतम - कूल पर॥
स्नान, ध्यान, वन्दन, आराधन के लिये।
थे एकत्रित हुए सहस्रों नारि - नर॥११॥

स्तोत्र - पाठ स्तवनादि से ध्वनित थी दिशा।
सामगान से मुखरित सारा - ओक था॥
पुण्य - कीर्तनों के अपूर्व - आलाप से।
पावन - आश्रम बना हुआ सुरलोक था॥१२॥

हवन क्रिया सर्वत्र सविधि थी हो रही।
बड़ा - शान्त बहु - मोहक - वातावरण था॥
हुत - द्रव्यों से तपोभूमि सौरभित थी।
मूर्त्तिमान बन गया सात्विकाचरण था॥१३॥

विद्यालय का वर - कुटीर या रम्य - थल।
आश्रम के अन्याय - भवन उत्तम बड़े॥
परम - सादगी के अपूर्व - आधार थे।
कीर्ति - पताका कर में लेकर थे खड़े॥१४॥

प्रातः - कालिक - दृश्य सबों का दिव्य था।
रवि - किरणें थीं उन्हें दिव्यता दे रही॥
उनके अवलम्ब से सकल - वनस्थली।
प्रकृति करों से परम - कान्ति थी ले रही॥१५॥

इसी समय अति-उत्तम एक कुटीर में।
जो नितान्त-एकान्त-स्थल में थी बनी॥
थीं कर रही प्रवेश साथ सौमित्र के।
परम-धीर-गति से विदेह की नन्दिनी॥१६॥

कुछ चल कर ही शान्त-मूर्त्ति-मुनिवर्य्य की।
उन्हें दिखाई पड़ी कुशासन पर लसी॥
जटा-जूट शिर पर था उन्नत-भाल था।
दिव्य-ज्योति उज्वल-आँखों में थी बसी॥१७॥

दीर्घ-विलम्बित-श्वेत-श्मश्रु, मुख-सौम्यता।
थी मानसिक-महत्ता की उद्बोधिनी॥
शान्त-वृत्ति थी सहृदयता की सूचिका।
थी विपत्ति-निपतित की सतत प्रबोधिनी॥१८॥

देख जनक-नन्दिनी सुमित्रा-सुअन को।
वंदन करते मुनि ने अभिनन्दन किया॥
सादर स्वागत के बहु-सुन्दर-वचन कह।
प्रेम के सहित उनको उचितासन दिया॥१९॥

बहुत-विनय से कहा सुमित्रा-तनय ने।
आर्य्या का जिस हेतु से हुआ आगमन॥
ऋषिवर को वे सारी बातें ज्ञात हैं।
स्वाभाविक होते कृपालु हैं पुण्य-जन॥२०॥

पुण्याश्रम का वास धर्म-पथ का ग्रहण।
परम-पुनीत-प्रथा का पालन शुद्ध-मन॥
क्यों न बनेगा सकल-सिद्धि प्रद बहु फलद।
महा-महिम का नियमन-रक्षण-संयमन॥२१॥

है मेरा विश्वास अनुष्ठित - कृत्य यह ।
होगा रघुकुल - कलस के लिए कीर्त्तिकर ।।
करेगा उसे अधिक गौरवित विश्व में ।
विशद - वंश को उज्वल - रत्न प्रदान कर ।।२२।।

मुनि ने कहा वशिष्ठ देव के पत्र से ।
सब बातें हैं मुझे ज्ञात, यह सत्य है—
लोक तथा परलोक - नयन आलोक है ।
भव - सागर में पोत समान अपत्य है ।।२३।।

वंश - वृद्धि, प्रतिपालन - प्रिय - परिवार का ।
वर्द्धन कुल की कीर्त्ति कर विशद - साधना ।।
मानव बन करना मानवता अर्चना ।
है सत्संतति कर्म, लोक - आराधना ।।२४।।

ऐसा ही सुत सकल - जगत है चाहता ।
किन्तु अधिक वांछित है नृपकुल के लिये ।।
क्योंकि नृपति वास्तव में होता है नृपति ।
वही धरा को रहता है धारण किये ।।२५।।

इसीलिये कुछ धर्म, प्राण, नृपकुल - तिलक ।
गर्भवती निज प्रिय - पत्नी को समय पर ।।
कुलपति आश्रम में प्रायः हैं भेजते ।
सर्व - लोक - हित - रत हो जिससे वंशधर ।।२६।।

रघुकुल - रंजन के अति - उत्तम - कार्य का ।
अनुमोदन करता हूँ सच्चे - हृदय से ।।
कहियेगा नृप - पुंगव से यह कृपा कर ।
सब कुछ होगा सांग रहेगा समय से ।।२७।।

पुत्रि जनकजे ! मैं कृतार्थ हो गया हूँ।
आप कृपा करके यदि आई हैं यहाँ॥
वे थल भी हैं अब पावन-थल हो गये।
आपका परम-शुचि-पग पड़ पाया जहाँ॥२८॥

आप मानवी हैं तो देवी कौन है।
महा-दिव्यता किसे कहाँ ऐसी मिली॥
पातिव्रत अति पूत सरोवर अंक में।
कौन पति-रता-पंकजिनी ऐसी खिली॥२९॥

पति-देवता कहाँ किसको ऐसी मिली।
प्रेम से भरा ऐसा हृदय न और है॥
पति-गत प्राणा ऐसी हुई न दूसरी।
कौन धरा की सतियों की सिरमौर है॥३०॥

किसी चक्रवर्त्ती की पत्नी आप हैं।
या लालित हैं महामना मिथिलेश की॥
इस विचार से हैं न पूजिता वंदिता।
आप अर्चिता हैं अलौकिकादर्श से॥३१॥

रत्न-जटित-हिन्दोल में पली आप थीं।
प्यारी-पुत्तलिका थीं मैना दृगों की॥
मिथिलाधिप-कर-कमलों से थीं लालिता।
कुसुम से अधिक कोमलता थी पगों की॥३२॥

कनक-रचित महलों में रहती थीं सदा।
चमर ढुला करता था प्रायः शीश पर॥
कुसुम-सेज थी दुग्ध-फेन-निभ-आस्तरण।
थीं विभूतियाँ अलकाधिपति-विमुग्धकर॥३३॥

मुख अवलोकन करती रहती थीं सदा।
कौशल्या देवी तन मन, धन, वार कर॥
सब प्रकार के भव के सुख, कर-बद्ध हो।
खड़े सामने रहते थे आठो पहर॥३४॥

किन्तु देखकर जीवन-धन का वन-गमन।
आप भी बनी सब तज कर वन-वासिनी॥
एक दो नहीं चौदह सालों तक रहीं।
प्रेम-निकेतन, पति के साथ प्रवासिनी॥३५॥

बन जाती थीं सकल भीतियाँ भूतियाँ।
कानन में आपदा सम्पदा सी सदा॥
आपके लिये प्रियतम प्रेम-प्रभाव से।
बनती थीं सुखदा कुवस्तुयें दुःखदा॥३६॥

पट्ट-वस्त्र बन जाता था वल्कल-वसन।
साग पात में मिलता व्यंजन स्वाद था॥
कान्त साथ तृण-निर्मित साधारण उटज।
बहु-प्रसाद पूरित बनता प्रासाद था॥३७॥

शीतल होता तप-ऋतु का उत्ताप था।
लू लपटें बन जाती थीं प्रातः-पवन॥
बनती थी पति साथ सेज सी साथरी।
सारे काँटे होते थे सुन्दर सुमन॥३८॥

जीवन भर में छ महीने ही हुआ है।
पति-वियोग उस समय जिस समय आपको॥
हरण किया था पामर-लंकाधिपति ने।
कर सहस्र-गुण पृथ्वी तल के पाप को॥३९॥

किन्तु यह समय ही वह अद्भुत समय था।
हुई जिस समय ज्ञात महत्ता आपकी॥
प्रकृति ने महा - निर्म्मम बनकर जिस समय।
आपके महत - पातिव्रत की माप की॥४०॥

वह रावण जिससे भूतल था काँपता।
एक वदन होते भी जो दश - वदन था॥
हो द्विबाहु जो विंशति बाहु कहा गया।
धृति शिर पर जो प्रबल वज्र का पतन था॥४१॥

महा - घोर गर्जन तर्जन प्रतिवार कर।
दिखा दिखा करवालें विद्युद्दाम सी॥
कर कर कुत्सित रीति कदर्य्य प्रवृत्ति से।
लोक प्रकम्पित करी क्रियायें तामसी॥४२॥

रख त्रिलोक की भूति प्रायशः सामने।
राज्य - विभव को चढ़ा चढ़ा पद पद्म पर॥
न तो विकम्पित कभी कर सका आपको।
न तो कर सका वशीभूत बहु मुग्ध कर॥४३॥

जिसकी परिखा रहा अगाध उदधि बना।
जिसका रक्षक स्वर्ग - विजेता - वीर था॥
जिसमें रहते थे दानव - कुल - अग्रणी।
जिसका कुलिशोपम अभेद्य - प्राचीर था॥४४॥

जिसे देख कम्पित होते दिग्पाल थे।
पंचभूत जिसमें रहते भयभीत थे॥
कँपते थे जिसमें प्रवेश करते त्रिदश।
जहाँ प्रकृत - हित पशुता में लवलीन थे॥४५॥

उस लंका में एक तरु तले आपने।
कितनी अँधियाली रातें दी हैं बिता॥
अकली नाना दानवियों के बीच में।
बहुशः - उत्पातों से हो हो शंकिता ॥४६॥

कितनी फैला वदन निगलना चाहतीं।
कितनी बन विकराल बनातीं चिन्तिता॥
ज्वालायें मुख से निकाल आँखें चढ़ा।
कितनी करती रहती थीं आतंकिता ॥४७॥

कितनी दाँतों को निकाल कटकटा कर।
लेलिहान - जिह्वा दिखला थीं कूदती॥
कितनी कर वीभत्स - काण्ड थीं नाचती।
आप देख जिसको आँखें थीं मूँदती ॥४८॥

आस पास दानव - गण करते शोर थे।
कर दानवी - दुरन्त - क्रिया की पूर्त्तियाँ॥
रहे फेंकते लूक सैकड़ों सामने।
दिखा दिखा कर बहु - भयंकरी - मूर्त्तियाँ ॥४९॥

इन उपद्रवों उत्पातों का सामना।
आपका सबलतम सतीत्व था कर रहा॥
हुई अन्त में सती - महत्ता विजयिनी।
लंकाधिप - वध - वृत्त लोक - मुख ने कहा ॥५०॥

पुत्रि आपकी शक्ति महत्ता विज्ञता।
धृति उदारता सहृदयता दृढ़ - चित्तता॥
मुझे ज्ञात है किन्तु प्राण - पति प्रेम की।
परम - प्रबलता तदीयता एकान्तता ॥५१॥

ऐसी है भवदीय कि मैं संदिग्ध हूँ।
क्यों वियोग-वासर व्यतीत हो सकेंगे॥
किन्तु कराती है प्रतीति धृति आपकी।
अंक कीर्त्ति के समय-पत्र पर अँकेंगे॥५२॥

जो पति प्राणा है पति-इच्छा पूर्त्ति तो।
क्या न प्राणपण से वह करती रहेगी॥
यदि वह है संतान-विषयिणी क्यों न तो।
प्रेम-जन्य-पीड़ा संयत बन सहेगी॥५३॥

देख रहा हूँ मैं पति की चर्चा चले।
वारि दृगों में बार बार आता रहा॥
किन्तु मान धृति का निदेश पीछे हटा।
आगे बढ़कर नहीं धार बनकर बहा॥५४॥

है मुझको विश्वास गर्भ-कालिक नियम।
प्रति दिन प्रतिपालित होंगे संयमित रह॥
होगा जो सर्वस्व अलौकिक-खानि का।
रघुकुल-पुंगव लाभ करेंगे रत्न वह॥५५॥

इतनी बातें कह मुनि पुंगव ने बुला।
तपस्विनी आश्रम-अधीश्वरी से कहा॥
आश्रम में श्रीमती जनक-नन्दिनी को।
आप लिवा ले जायँ कर समादर-महा॥५६॥

जो कुटीर या भवन अधिक उपयुक्त हो।
जिसको स्वयं महारानी स्वीकृत करें॥
उन्हें उसी में कर सुविधा ठहराइये।
जिसके दृश्य प्रफुल्ल-भाव उर में भरें॥५७॥

यह सुन ,लक्ष्मण से विदेहजा ने कहा।
तुमने मुनिवर की दयालुता देख ली ॥
अतः चले जाओ अब तुम भी, और मैं -
तपस्विनी आश्रम में जाती हूँ चली ॥५८॥

प्रिय से यह कहना महान - उद्देश्य से।
अति पुनित - आश्रम में है उपनीत - तन ॥
किन्तु प्राण पति पद - सरोज का सर्वदा।
बना रहेगा मधुप सेविका मुग्ध - मन ॥५९॥

मेरी अनुपस्थिति में प्राणाधार को।
विविध - असुविधायें होवेंगी इसलिये ॥
इधर तुम्हारी दृष्टि अपेक्षित है अधिक।
सारे सुख कानन में तुमने हैं दिये ॥६०॥

यद्यपि तुम प्रियतम के सुख - सर्वस्व हो।
स्वयं सभी समुचित सेवायें करोगे ॥
किन्तु नहीं जी माना इससे की विनय।
स्नेह - भाव से ही आशा है भरोगे ॥६१॥

सुन विदेहजा - कथन सुमित्रा - सुअन ने।
अश्रु - पूर्ण - दृग से आज्ञा स्वीकार की ॥
फिर सादर कर मुनि - पद सिय - पग वन्दना।
अवध - प्रयाण - निमित्त प्रेम से विदा ली ॥६२॥

दोहा

कर मुनिवर की वन्दना रख विभूति - विश्वास।
जाकर आश्रम में किया जनक - सुता ने वास ॥६३॥

नवम सर्ग

—※—

अवध धाम

—※—

तिलोकी

था संध्या का समय भवन मणिगण दमक।
दीपक-पुंज समान जगमगा रहे थे॥
तोरण पर अति-मधुर-वाद्य था बज रहा।
सौधों में स्वर सरस-स्रोत से बहे थे॥ १॥

'काली चादर ओढ़ रही थी यामिनी।
जिसमें विपुल सुनहले बूटे थे बने॥
तिमिर-पुंज के अग्रदूत थे घूमते।
दिशा-वधूटी के व्याकुल-दृग सामने॥ २॥

सुधा धवलिमा देख कालिमा की क्रिया।
रूप बदल कर रही मलिन-वदना बनी॥
उतर रही थी धीरे कर से समय के।
सब सौधों में तनी दिवासित चाँदनी॥ ३॥

तिमिर फैलता महि-मण्डल में देखकर।
मंजु-मशालें लगा व्योमतल बालने॥
ग्रीवा में श्रीमती प्रकृति-सुन्दरी के।
मणि-मालायें लगा ललक कर डालने॥ ४॥

हो कलरविता, लसिता दीपक - अवलि से।
निज विकास से बहुतों को विकसित बना॥
विपुल-कुसुम-कुल की कलिकाओं को खिला।
हुई निशा मुख द्वारा रजनी - व्यंजना॥ ५॥

इसी समय अपने प्रिय शयनागार में।
सकल भुवन अभिराम राम आसीन थे॥
देख रहे थे अनुज - पंथ उत्कंठ हो।
जनक - लली लोकोत्तरता में लीन थे॥ ६॥

तोरण पर का वाद्य बन्द हो चुका था।
किन्तु एक वीणा थी अब भी झंकृता॥
पिला पिला कर सुधा पिपासित - कान को।
मधुर - कंठ -स्वर से मिल वह थी गुंजिता॥ ७॥

उसकी स्वर लहरी थी उर को वेधती।
नयन से गिराती जल उसकी तान थी॥
एक गायिका करुण - भाव की मूर्त्ति बन।
आहें भर भर कर गाती यह गान थी॥ ८॥

गान

आकुल आँखें तरस रही हैं।
बिना बिलोके मुख - मयंक- छबि पल पल आँसू बरस रही हैं॥
दुख दूना होता जाता है सूना घर धर खाता है।
ऊब ऊब उठती हूँ मेरा जी रह रह कर घबराता है॥
दिन भर आहें भरती हूँ मैं तारे गिन गिन रात बिताती।

आ अन्तस्थल मध्य न जानें कहाँ की उदासी है छाती॥

शुक ने आज नहीं मुँह खोला नहीं नाचता दिखलाता है।
मैना भी है पड़ी मोह में उसके दृग से जल जाता है॥
देवि ! आप कब तक आयेंगी आँखें हैं दर्शन की प्यासी।
थाम कलेजा कलप रही है पड़ी व्यथा - वारिधि में दासी॥ ९॥

तिलोकी

रघुकुल पुंगव ने पूरा गाना सुना।
धीर धुरंधर करुणा - वरुणालय बने॥
इसी समय कर पूजित - पग की वन्दना।
खड़े दिखाई दिये प्रिय - अनुज सामने॥१०॥

कुछ आकुल कुछ तुष्ट कुछ अचिन्तित दशा।
देख सुमित्रा - सुत की प्रभुवर ने कहा॥
तात ! तुम्हें उत्फुल्ल नहीं हूँ देखता।
क्यों मुझको अवलोक दृगों से जल बहा॥११॥

आश्रम में तो सकुशल पहुँच गईं प्रिया ?
वहाँ समादर स्वागत तो समुचित हुआ॥
हैं मुनिराज प्रसन्न ? शान्त है तपोवन।
नहीं कहीं पर तो है कुछ अनुचित हुआ ?॥१२॥

सविनय कहा सुमित्रा के प्रिय - सुअन ने।
मुनि हैं मंगल - मूर्त्ति, तपोवन पूततम॥
आर्य्या हैं स्वयमेव दिव्य देवियों सी।
आश्रम है सात्विक - निवास सुरलोक सम॥१३॥

वह है सद्व्यवहार - धाम सत्कृति - सदन।
वहाँ कुशल है 'कार्य - कुशलता' सीखती॥
भले - भाव सब फूले फले मिले वहाँ।
भली - भावना - भूति भरी है दीखती॥१४॥

किन्तु एक अति - पति - परायणा की दशा ।
उनकी मुख - मुद्रा उनकी मार्मिक व्यथा ॥
उनकी गोपन - भाव - भरित दुख - व्यंजना ।
उनकी बहु - संयमन प्रयत्नों की कथा ॥१५॥

मुझे बनाती रहती है अब भी व्यथित ।
उसकी याद सताती है अब भी मुझे ॥
उन बातों को सोच न कब छलके नयन ।
आश्वासन देतीं कह जिन्हें कभी मुझे ॥१६॥

तपोभूमि का पूत - वायुमण्डल मिले ।
मुनि - पुंगव के सात्विक - पुण्य - प्रभाव से ॥
शान्ति बहुत कुछ आर्य्या को है मिल रही ।
तपस्विनी - गण सहृदयता सद्भाव से ॥१७॥

किन्तु पति - परायणता की जो मूर्त्ति है ।
पति ही जिसके जीवन का सर्वस्व है ॥
बिना सलिल की सफरी वह होगी न क्यों ।
पति - वियोग में जिसका विफल निजस्व है ॥१८॥

सिय - प्रदत्त - सन्देश सुना सौमित्र ने ।
कहा, भरी है इसमें कितनी वेदना ॥
बात आपकी चले न कब दिल हिल गया ।
कब न पति - रता आँखों से आँसू छना ॥१९॥

उनको है कर्त्तव्य ज्ञान वे आपकी–
कर्म - परायण हैं सच्ची सहधर्मिणी ॥
लोक - लाभ - मूलक प्रभु के संकल्प पर ।

उत्सर्गी कृत होकर हैं कृति - ऋण - ऋणी ॥२०॥

फिर भी प्रभु की स्मृति, दर्शन की लालसा।
उन्हें बनाती रहती है व्यथिता अधिक ॥
यह स्वाभाविकता है उस सद्भाव की।
जो आजन्म रहा सतीत्व - पथ का पथिक ॥२१॥

जिसने अपनी वर - विभूति - विभुता दिखा।
रज समान लंका के विभवों को गिना ॥
जिसके उस कर से जो दिव - बल - दीप्त था।
लंकाधिप का विश्व - विदित - गौरव छिना ॥२२॥

कर प्रसून सा जिसने पावक - पुंज को।
दिखलाई अपनी अपूर्व तेजस्विता ॥
दानवता आतपता जिसकी शान्ति से।
बहुत दिनों तक बनती रही शरद सिता ॥२३॥

बड़े अपावन - भाव परम - पावन बने।
जिसकी पावनता का करके सामना ॥
चौदह वत्सर तक जिसकी धृति - शक्ति से।
बहु दुर्गम वन अति सुन्दर उपवन बना ॥२४॥

इष्ट - सिद्धि होगी उसका ही बल मिले।
सफल बनेगी कठिन से कठिन साधना ॥
भव - हित होगा भय - विहीन होगी धरा।
होवेगी लोकोत्तर लोकाराधना ॥२५॥

यह निश्चित है पर आर्य्या की वेदना।
जितनी है दुस्सह उसको कैसे कहूँ ॥
वे हैं महिमामयी सहन कर लें व्यथा।
उन्हें व्यथा है, इसको मैं कैसे सहूँ ॥२६॥

कुलपति आश्रम - गमन किसे प्रिय है नहीं।
इस मांगलिक - विधान से मुदित हैं सभी ॥
पर न आज है राज - भवन ही श्री - रहित।
सूना है हो गया अवध सा नगर भी ॥२७॥

मुनि आश्रम के वास का अनिश्चित समय।
किसे बनाता है नितान्त - चिन्तित नहीं ॥
मातायें यदि व्यथिता हैं वधुओं - सहित।
पौर - जनों का भी तो स्थिर है चित नहीं ॥२८॥

मुझे देख सबके मुख पर यह प्रश्न था।
कब आयेंगी पुण्यमयी - महि - नन्दिनी ॥
अवध पुरी फिर कब होगी आलोकिता।
फिर कब दर्शन देंगी कलुष - निकन्दिनी ॥२९॥

प्रायः आर्य्या जाती थीं प्रातः - समय।
पावन - सलिला - सरयू सरिता तीर पर ॥
और वहाँ थीं दान - पुण्य करती बहुत।
वारिद - सम वर - वारि - विभव की वृष्टि कर ॥३०॥

समय समय पर देव - मंदिरों में पहुँच।
होती थीं देवी समान वे पूजिता ॥
सकल - न्यूनताओं की करके पूर्त्तियाँ।
सत्प्रवृत्ति को रहीं बनाती ऊर्जिता ॥३१॥

वे निज प्रिय - रथ पर चढ़ कर संध्या - समय।
अटन के लिये जब थीं बाहर निकलती ॥
तब खुलते कितने लोगों के भाग्य थे।
उन्नति में थी बहु - जन अवनति बदलती ॥३२॥

राज - भवन से जब चलती थीं उस समय।
रहते उनके साथ विपुल - सामान थे॥
जिनसे मिलता आर्त्त - जनों को त्राण था।
बहुत अकिञ्चन बनते कञ्चनवान थे॥३३॥

दक्ष दासियाँ जितनी रहती साथ थीं।
वे जनता - हित - साधन की आधार थीं॥
मिले पंथ में किसी रुग्न विकलांग के।
करती उनके लिये उचित - उपचार थीं॥३४॥

इसी लिये उनके अभाव में आज दिन।
नहीं नगर में ही दुख की धारा वही॥
उदासीनता है कह रही उदास हो।
राज - भवन भी रहा न राज - भवन वही॥३५॥

आर्य्या की प्रिय - सेविका सुकृतिवती ने।
अभी गान जो गाया है उद्विग्न बन॥
अहह भरा है उसमें कितना करुण - रस।
वह है राज - भवन दुख का अविकल - कथन॥३६॥

गृहजन परिजन पुरजन की तो बात क्या।
रथ के घोड़े व्याकुल हैं अब तक बड़े॥
पहले तो आश्रम को रहे न छोड़ते।
चले चलाये तो पथ में प्रायः अड़े॥३७॥

घुमा घुमा शिर रहे रिक्त - रथ देखते।
थे निराश नयनों से आँसू ढालते॥
बार बार हिनहिना प्रकट करते व्यथा।
चौंक चौंक कर पाँव कभी थे डालते॥३८॥

आर्य्या कोमलता ममता की मूर्त्ति हैं।
हैं सद्भाव - रता उदारता पूरिता॥
हैं लोकाराधन - निधि - शुचिता - सुरसरी।
हैं मानवता - राका - रजनी की सिता॥३६॥

फिर कैसे होतीं न लोक में पूजिता।
क्यों न अदर्शन उनका जनता को खले॥
किन्तु हुई निर्विघ्न मांगलिक - क्रिया है।
हित होता है पहुँचे सुर पादप तले॥४०॥

कहा राम ने आज राज्य जो सुखित है।
जो वह मिलता है इतना फूला फला॥
जो कमला की उस पर है इतनी कृपा।
जो होता रहता है जन जन का भला॥४१॥

अवध पुरी है जो सुर - पुरी सदृश लसी।
जो उसमें है इतनी शान्ति विराजती॥
तो इसमें है हाथ बहुत कुछ प्रिया का।
है यह बात अधिकतर जनता जानती॥४२॥

कुछ अशान्ति जो फैल गई है इन दिनों।
वे ही उसका वारण भी हैं कर रही॥
विविध - व्यथायें सह वह विरह - प्रवाह में।
वे ही दुख - निधि में हैं अहह उतर रही॥४३॥

भला कामना किसको है सुख की नहीं।
क्या मैं सुखी नहीं रहना हूँ चाहता॥
क्या मैं व्यथित नहीं हूँ कान्ता - व्यथा से।
क्या मैं सद्व्रत को हूँ नहीं निबाहता॥४४॥

तन, छाया - सम जिसका मेरा साथ था।
आज दिखाती उसकी छाया तक नहीं॥
प्रवह - मान - संयोग - स्रोत ही था जहाँ।
अब वियोग - स्वर - धारा बहती है वहीं॥ ४५॥

आज बन गई है वह कानन - वासिनी।
जो मम - आनन अवलोके जीती रही॥
आज उसे है दर्शन - दुर्लभ हो गया।
पूत - प्रेम - प्याला जो नित पीती रही॥४६॥

आज निरन्तर विरह सताता है उसे।
जो अन्तर से प्रियतम अनुरागिनी थी॥
आह भार अब उसका जीवन हो गया।
आजीवन जो मम - जीवन - संगिनी थी॥४७॥

तात! विदित हो कैसे अन्तर्वेदना।
काढ़ कलेजा क्यों मैं दिखलाऊँ तुम्हें॥
स्वयं बन गया जब मैं निर्म्मम - जीव तो।
मर्म्मस्थल का मर्म्म क्यों बताऊँ तुम्हें॥४८॥

क्या माताओं की मुझको ममता नहीं।
क्या होता हूँ दुखित न उनका देख दुख॥
क्या पुरजन परिजन अथवा परिवार का।
मुझे नहीं वांछित है सच्चा आत्म - सुख॥४९॥

सुकृतिवती का विह्वलतामय - गान सुन।
क्या मेरा अन्तस्तल हुआ नहीं द्रवित॥
कथा बाजियों की सुन कर करुणा भरी।
नहीं हो गया क्या मेरा मानस व्यथित॥५०॥

किन्तु प्रश्न यह है, है धार्मिक - कृत्य क्या ?
प्रजा - रंजिनी - राजनीति का मर्म्म क्या ?
जिससे हो भव - भला लोक - आराधना ।
वह मानव - अवलम्बनीय है कर्म्म क्या ॥५१॥

अपना हित किसको प्रिय होता है नहीं ।
सम्बन्धी का कौन नहीं करता भला ॥
जान बूझ कर वश चलते जंजाल में ।
कोई नहीं फँसाता है अपना गला ॥५२॥

स्वार्थ - सूत्र में बँधा हुआ संसार है ।
इष्ट - सिद्धि भव - साधन का सर्वस्व है ॥
कार्य्य - क्षेत्र में उतर जगत में जन्म ले ।
सबसे प्यारा सबको रहा निजस्व है ॥५३॥

यह स्वाभाविक - नियम प्रकृति अनुकूल है ।
यदि यह होता नहीं विश्व चलता नहीं ॥
पलने पर विधि - बद्ध - विधानों के कभी ।
जगतीतल का प्राणि - पुंज पलता नहीं ॥५४॥

किन्तु स्वार्थ-साधन, हित-चिन्ता-स्वजन की ।
उचित वहीं तक है जो हो कश्मल - रहित ॥
जो न लोक - हित पर - हित के प्रतिकूल हो ।
जो हो विधि -संगत, जो हो छल-बल रहित ॥५५॥

कर पर का अपकार लोक - हित का कदन ।
निज - हित करना पशुता है, है अधमता ॥
भव - हित पर-हित देश-हितों का ध्यान रख ।
कर लेना निज - स्वार्थ - सिद्धि है मनुजता ॥५६॥

मनुजों में वे परम - पूज्य हैं वंद्य हैं।
जो परार्थ - उत्सर्गी - कृत - जीवन रहे ॥
सत्य, न्याय के लिये जिन्होंने अटल रह।
प्राण - दान तक किये, सर्व - संकट सहे ॥५७॥

नृपति मनुज है अतः मनुजता अयन है।
सत्य न्याय का वह प्रसिद्ध आधार है ॥
है प्रधान - कृति उसकी लोकाराधना।
उसे शान्तिमय शासन का अधिकार है ॥५८॥

अवनीतल में ऐसे नृप - मणि हैं हुए।
इन बातों के जो सच्चे - आदर्श थे ॥
दिव्य - दूत जो विभु - विभूतियों के रहे।
कर्म्म - पूततम जिनके मर्म्म - स्पर्श थे ॥५९॥

हरिश्चन्द्र, शिवि आदि नृपों की कीर्त्तियाँ।
अब भी हैं वसुधा की शान्ति - विधायिनी ॥
भव - गौरव ऋषिवर दधीचि की दिव्य-कृति।
है अद्यापि अलौकिक शिक्षा - दायिनी ॥६०॥

है वह मनुज न, जिसमें मिली न मनुजता।
अनीति रत में कहाँ नीति - अस्तित्व है ॥
वह है नरपति नहीं जो नहीं जानता।
नरपतित्व का क्या दत्तरदायित्व है ॥६१॥

कोई सज्जन, ज्ञानमान, मतिमान, नर।
यथा - शक्ति परहित करना है चाहता ॥
देश, जाति, भव - हित अवसर अवलोक कर।
प्रायः वह निज - हित को भी है त्यागता ॥६२॥

यदि ऐसा है तो क्या यह होगा विहित।
कोई नृप अपने प्रधान - कर्त्तव्य का॥
करे त्याग निज के सुख - दुख पर दृष्टि रख।
अथवा मान निदेश मोह - मन्तव्य का॥६३॥

जिसका जितना गुरु - उत्तरदायित्व है।
उसे महत उतना ही बनना चाहिये॥
त्याग सहित जिसमें लोकाराधन नहीं।
वह लोकाधिप कहलाता है किस लिये॥६४॥

बात तुम्हें लोकापवाद की ज्ञात है।
मुझे लोक - उत्पीड़न वांछित है नहीं॥
अतः बनूँ मैं क्यों न लोक - हित - पथ - पथिक।
जहाँ सुकृति है शान्ति विलसती है वहीं॥६५॥

मैं हूँ व्यथित अधिकतर - व्यथिता है प्रिया।
क्योंकि सताती है आ आ सुख - कामना॥
है यह सुख - कामना एक उन्मत्तता।
भरी हुई है इसमें विविधा - वासना॥६६॥

यह सरसा - संस्कृति है यह है प्रकृति - रति।
यह विभाव संसर्ग - जनित - अभ्यास है॥
है यह मूर्त्ति मनुज के परमानन्द की।
वर - विकास, उल्लास, विलास, निवास है॥६७॥

त्याग - कामना भी नितान्त कमनीय है।
मानवता - महिमा द्वारा है अंकिता॥
वन कर्त्तव्य परायणता से दिव्यतम।
लोक - मान्य - मन्त्रों से है कविरंजिता॥६८॥

मैंने जो है त्याग किया वह उचित है।
ऐसा ही करना इस समय सुकर्म्म था ॥
इसीलिये सहमत विदेहजा भी हुई।
क्योंकि यही सहधर्मिणी परम धर्म था ॥६९॥

कितने सह साँसतें बहुत दुख भोगते।
कितने पिसते पड़ प्रकोप तलवों तले ॥
दमन-चक्र यदि चलता तो बहता लहू।
वृथा न जाने कितने कट जाते गले ॥७०॥

तात ! देख लो साम-नीति के ग्रहण से।
हुआ प्राणियों का कितना उपकार है ॥
प्रजा सुरक्षित रही पिसी जनता नहीं।
हुआ लोक-हित मचा न हाहाकार है ॥७१॥

हाँ ! वियोगिनी प्रिया-दशा दयनीय है।
मेरा उर भी इससे मथित अपार है ॥
किन्तु इसी अवसर पर आश्रम में गमन।
दोनों के दुख का उत्तम-प्रतिकार है ॥७२॥

जब से सम्बन्धित हम दोनों हुए हैं।
केवल छ महीने का हुआ वियोग है ॥
रहीं जिन दिनों लंका में जनकांगजा।
किन्तु आ गया अब ऐसा संयोग है ॥७३॥

जो यह बतलाता है अहह वियोग यह।
होगा चिरकालिक बरसों तक रहेगा ॥
अतः सताती है यह चिन्ता नित मुझे।
पति प्राणा का हृदय इसे क्यों सहेगा ॥७४॥

पर मुझको इसका पूरा विश्वास है।
हो अधीर भी तजेंगी नहीं धीरता॥
प्रिया करेंगी मम-इच्छा की पूर्त्ति ही।
पूत रहेगी नयन-नीर की नीरता॥७५॥

सहायता उनके सद्भाव-समूह की।
सदा करेगी तपोभूमि-शुचि-भावना॥
उन्हें सँभालेगी मुनि की महनीयता।
कुल-दीपक संतान-प्रसव-प्रस्तावना॥७६॥

इसी लिये मुझको अशान्ति में शान्ति है।
और विरह में भी हूँ बहुत व्यथित न मैं॥
चिन्तित हूँ पर अतिशय-चिन्तित हूँ नहीं।
इसीलिये बनता हूँ विचलित-चित न मैं॥७७॥

किन्तु जनकजा के अभाव की पूर्त्तियाँ।
हमें तुम्हें भ्राताओं भ्रातृ-वधू सहित॥
करना होगा जिससे मातायें तथा।
परिजन, पुरजन, यथा रीति होवें सुखित॥७८॥

तात! करो यह यत्न दलित दुख-दल बने।
सरस-शान्ति की धारा घर घर में बहे॥
कोई कभी असुख-मुख अवलोके नहीं।
सुखमय-वासर से विलसित वसुधा रहे॥७९॥

दोहा

सीता का सन्देश कह, सुन आदर्श पवित्र।
वन्दन कर प्रभु-कमल-पग चले गये सौमित्र॥८०॥

दशम सर्ग

—++—

तपस्विनी आश्रम

—*—

चौपदे

प्रकृति का नीलाम्बर उतरे।
श्वेत - साड़ी उसने पाई॥
हटा घन - घूँघट शरदाभा।
विहँसती महि में थी आई॥ १॥

मलिनता दूर हुए तन की।
दिशा थी बनी विकच - वदना॥
अधर में मंजु - नीलिमामय।
था गगन - नवल - वितान तना॥ २॥

चाँदनी छिटिक छिटिक छबि से।
छबीली बनती रहती थी॥
सुधाकर - कर से वसुधा पर।
सुधा की धारा बहती थी॥ ३॥

कहीं थे बहे दुग्ध - सोते।
कहीं पर मोती थे ढलके॥
कहीं था अनुपम - रस बरसा।
भव सुधा - प्याला के छलके॥ ४॥

मंजुतम गति से हीरक-चय।
निछावर करती जाती थी॥
जगमगाते ताराओं में।
थिरकती ज्योति दिखाती थी॥ ५॥

क्षिति-छटा फूली फिरती थी।
विपुल-कुसुमावली विकसी थी॥
आज वैकुण्ठ छोड़ कमला।
विकच-कमलों में विलसी थी॥ ६॥

पादपों के श्यामल-दल ने।
प्रभा पारद सी पाई थी॥
दिव्य हो हो नवला-लतिका।
विभा सुरपुर से लाई थी॥ ७॥

मंद-गति से बहती नदियाँ।
मंजु-रस मिले सरसती थीं॥
पा गये राका सी रजनी।
वीचियाँ बहुत विलसती थीं॥ ८॥

किसी कमनीय-मुकुर जैसा।
सरोवर विमल-सलिल वाला॥
मोहता था स्वअंक में ले।
विधु-सहित मंजुल-उडु-माला॥ ९॥

शरद-गौरव नभ-जल-थल में।
आज मिलते थे आँके से॥
कीर्ति फैलाते थे हिल हिल।
कास के फूल पताके से॥१०॥

चतुष्पद

तपस्विनी - आश्रम समीप थी ।
एक बड़ी रमणीय - वाटिका ॥
वह इस समय विपुल-विलसित थी ।
मिले सिता की दिव्य साटिका ॥११॥

उसमें अनुपम फूल खिले थे ।
मंद मंद जो मुसकाते थे ॥
बड़े भले - भावों से भर भर ।
भली रंगतें दिखलाते थे ॥१२॥

छोटे छोके पौधे उसके ।
थे चुप चाप खड़े छवि पाते ॥
हो कोमल - श्यामल - दल शोभित ।
रहे श्यामसुंदर कहलाते ॥१३॥

रंग बिरंगी विविध लतायें ।
ललित से ललित बन विलसित थीं ॥
किसी कलित कर से लालित हो ।
विकच-बालिका सी विकसित थीं ॥१४॥

इसी बाटिका में निर्मित था ।
एक मनोरम - शान्ति - निकेतन ॥
जो था सहज - विभूति - विभूषित ।
सात्विकता - शुचिता - अवलम्बन ॥

था इसके सामने सुशोभित ।
एक विशाल - दिव्य - देवालय ॥
जिसका ऊँचा - कलस इस समय ।
बना हुआ था कान्त - कान्तिमय ॥१६॥

शान्ति - निकेतन के आगे था।
एक सित - शिला - विरचित - चत्वर ॥
उस पर बैठी जनक - नन्दिनी।
देख रही थीं दृश्य - मनोहर ॥१७॥

प्रकृति हँस रही थी नभतल में।
हिम - दीधित को हँसा हँसा कर ॥
ओस - विन्दु - मुक्तावलि द्वारा।
गोद सिता की वार बार भर ॥१८॥

चारु - हाँसिनी चन्द्र - प्रिया की।
अवलोकन कर बड़ी रुचिर - रुचि ॥
देखे उसकी लोक - रंजिनी -
कृति, नितान्त-कमनीय परम-शुचि ॥१९॥

जनक - सुता उर द्रवीभूत था।
उनके दृग से था जल जाता ॥
कितने ही अतीत - वृत्तों का।
ध्यान उन्हें था अधिक सताता ॥२०॥

कहने लगीं सिते ! सीता भी।
क्या तुम जैसी ही शुचि होगी ॥
क्या तुम जैसी ही उसमें भी।
भव - हित - रता दिव्य - रुचि होगी ॥२१॥

तमा तमा है तमोमयी है।
भाव सपत्नी का है रखती ॥
कभी तुमारी पूत - प्रीति की।
स्वाभाविकता नहीं परखती ॥२२॥

फिर भी 'राका-रजनी' कर तुम।
उसको दिव्य बना देती हो॥
कान्ति-हीन को कान्ति-मती कर।
कमनीयता दिखा देती हो॥२३॥

जिसे नहीं हँसना आता है।
चारु-हासिनी वह बनती है॥
तुमको आलिंगन कर असिता।
स्वर्गिक-सितता में सनती है॥२४॥

ताटंक

नभतल में यदि लसती हो तो,
भूतल में भी खिलती हो।
दिव्य-दिशा को करती हो तो,
विदिशा में भी मिलती हो॥२५॥

बहु विकास विलसित हो वारिधि,
यदि पयोधि बन जाता है।
तो लघु से लघुतम सरवर भी,
तुमसे शोभा पाता है॥२६॥

गिरि-समूह-शिखरों को यदि तुम,
मणि-मण्डित कर पाती हो।
छोटे छोटे टीलों पर भी,
तो निज छटा दिखाती हो॥२७॥

सुजला-सुफला-शस्य श्यामला,
भू जो भूषित होती है।
तुमसे सुधा लाभ कर तो मरु-
मही भी महत्ता खोती है॥२८॥

रम्य - नगर लघु-ग्राम वरविभा,
दोनों तुमसे पाते हैं।
राज - भवन हों या कुटीर, सब
कान्ति - मान बन जाते हैं ॥२६॥

तरु - दल हों प्रसून हों तृण हों,
सबको द्युति तुम देती हो।
औरों की क्या बात रजत - कण,
रज - कण को कर लेती हो ॥३०॥

घूम घूम करके घनमाला,
रस बरसाती रहती है।
मृदुता सहित दिखाती उसमें,
द्रवण - शीलता महती है ॥३१॥

है जीवन - दायिनी कहाती,
ताप जगत का हरती है।
तरु से तृण तक का प्रतिपालन,
जल प्रदान कर करती है ॥३२॥

किन्तु महा - गर्जन - तर्जन कर,
कँपा कलेजा देती है।
गिरा गिरा कर बिजली जीवन,
कितनों का हर लेती है ॥३३॥

हिम - उपलों से हरी भरी,
खेती का नाश कराती है।
जल - प्लावन से नगर ग्राम,
पुर को बहु विकल बनाती है ॥३४॥

अतः सदाशयता तुम जैसी,
उसमें नहीं दिखाती है।
केवल सत्प्रवृत्ति ही उसमें,
मुझे नहीं मिल पाती है ॥३५॥

तुममें जैसी लोकोत्तरता,
सहज - स्निग्धता मिलती है।
सदा तुमारी कृति-कलिका जिस -
अनुपमता से खिलती है ॥३६॥

वैसी अनुरंजनता शुचिता,
किसमें कहाँ दिखाती है।
केवल प्रियतम दिव्य - कीर्त्ति ही -
में वह पाई जाती है ॥३७॥

हाँ प्रायः वियोगिनी तुमसे,
व्यथिता बनती रहती है।
देख तुमारे जीवनधन को,
मर्म्म - वेदना सहती है ॥३८॥

यह उसका अन्तर - विकार है,
तुम तो सुख ही देती हो।
आलिंगन कर उसके कितने -
तापों को हर लेती हो ॥३९॥

यह निस्स्वार्थ सदाशयता यह
वर - प्रवृत्ति पर - उपकारी।
दोष - रहित यह लोकाराधन,
यह उदारता अति - न्यारी ॥४०॥

बना सको है भाग्य - शालिनी,
ऐ सुभगे तुमको जैसी।
त्रिभुवन में अवलोक न पाई,
मैं अब तक कोई वैसी ॥४१॥

इस धरती से कई लाख कोसों -
पर कान्त तुमारा है।
किन्तु बीच में कभी नहीं
वहली वियोग की धारा है ॥४२॥

लाखों कोसों पर रहकर भी
पति - समीप तुम रहती हो।
यह फल उन पुण्यों का है,
तुम जिसके बल से महती हो ॥४३॥

क्यों संयोग बाधिका बनती,
लाखों कोसों की दूरी॥
क्या होती हैं नहीं सती की
सकल कामनायें पूरी? ॥४४॥

ऐसी प्रगति मिली है तुमको,
अपनी पूत - प्रकृति द्वारा।
है हो गया विदूरित जिससे,
प्रिय - वियोग - संकट सारा ॥४५॥

सुकृतिवती हो सत्य - सुकृति-फल
सारे - पातक खोता है।
उसके पावन - तम - प्रभाव में,
बहता रस का सोता है ॥४६॥

तुम तो लाखों कोस दूर की,
अवनी पर आ जाती हो।
फिर भी पति से पृथक न होकर,
पुलकित बनी दिखाती हो ॥४७॥

मुझे सौ सवा सौ कोसों की,
दूरी भी कलपाती है।
मेरी आकुल आँखों को
पति-मूर्त्ति नहीं दिखलाती है ॥४८॥

जिसकी मुख-छवि को अवलोके,
छबिमय जगत दिखाता है।
जिसका सुन्दर विकच-वदन,
वसुधा को मुग्ध बनाता है ॥४९॥

जिसकी लोक-ललाम-मूर्त्ति,
भव-ललामता की जननी है।
जिसके आनन की अनुपमता,
परम-प्रमोद प्रसविनी है ॥५०॥

जिसकी अति-कमनीय-कान्ति से,
कान्तिमानता लसती है।
जिसकी महा-रुचिर-रचना में,
लोक-रुचिरता बसती है ॥५१॥

जिसकी दिव्य-मनोरमता में,
रम मन तम को खोता है।
जिसकी मंजु माधुरी पर,
माधुर्य निछावर होता है ॥५२॥

जिसकी आकृति सहज - सुकृति ।
का बीज हृदय में बोती है ॥
जिसकी सरस - वचन की रचना ,
मानस का मल धोती है ॥५३॥

जिसकी मृदु - मुसकान भुवन -
मोहकता की प्रिय - थाती है ।
परमानन्द जनकता जननी ,
जिसको हँसी कहाती है ॥५४॥

भले भले भावों से भर भर ,
जो भूतल को भाते हैं ।
बड़े बड़े लोचन जिसके ,
अनुराग - रँगे दिखलाते हैं ॥५५॥

जिनकी लोकोत्तर लीलायें ,
लोक - ललक की थाती हैं ।
ललित - लालसाओं को विलसे ,
जो उल्लसित बनाती हैं ॥५६॥

आजीवन जिनके चन्द्रानन की -
चकोरिका बनी रही ।
जिसकी भव - मोहिनी सुधा प्रति -
दिन पी पी कर मैं निबही ॥५७॥

जिन रविकुल - रवि को अवलोके ,
रही कमलिनी सी फूली ।
जिनके परम - पूत भावों की ,
भावुकता पर थी भूली ॥५८॥

सिते ! महीनों हुए नहीं उनका ,
दर्शन मैंने पाया ।
विधि-विधान ने कभी नहीं ,
था मुझको इतना कलपाया ॥५६॥

जैसी तुम हो सुकृतिमयी जैसी -
तुममें सहृदयता है ।
जैसी हो भवहित विधायिनी ,
जैसी तुममें ममता है ॥६०॥

मैं हूँ अति-साधारण नारी ,
कैसे वैसी मैं हूँगी ।
तुम जैसी महती व्यापकता ,
उदारता क्यों पाऊँगी ॥६१॥

फिर भी आजीवन मैं जनता -
का हित करती आई हूँ ।
अनहित औरों का अवलोके ,
कब न बहुत घबराई हूँ ॥६२॥

जान बूझ कर कभी किसी का -
अहित नहीं मैं करती हूँ ।
पाँव सर्वदा फूँक फूँक कर ,
धरती पर मैं धरती हूँ ॥६३॥

फिर क्यों लाखों कोसों पर रह ,
तुम पति पास विलसती हो ।
बिना विलोके दुख का आनन ,
सर्वदैव तुम हँसती हो ॥६४॥

और किसलिये थोड़े अन्तर,
पर रह मैं उकताती हूँ।
बिना नवल-नीरद-तन देखे,
दृग से नीर बहाती हूँ ॥६५॥

ऐसी कौन न्यूनता मुझमें है,
जो विरह सताता है।
सिते! बता दो मुझे क्यों नहीं,
चन्द्र-वदन दिखलाता है ॥६६॥

किसी प्रिय सखी सदृश प्रिये तुम
लिपटी हो मेरे तन से।
हो जीवन-संगिनी सुखित-
करती आती हो शिशुपन से ॥६७॥

हो प्रभाव-शालिनी कहाती,
प्रभा भरित दिखलाती हो।
तमस्विनी का भी तम हरकर,
उसको दिव्य बनाती हो ॥६८॥

मेरी तिमिरावृता न्यूनता का
निरसन त्योंही कर दो।
अपनी पावन ज्योति कृपा-
दिखला, मम जीवन में भर दो ॥६९॥

कोमलता की मूर्त्ति सिते हो।
हितेरता कहलाओगी।
आशा है आई हो तो तुम,
उर में सुधा बहाओगी ॥७०॥

अधिक क्या कहूँ अति-दुर्लभ है,
तुम जैसी ही हो जाना।
किन्तु चाहती हूँ जी से तव-
सद्भावों को अपनाना ॥७१॥

जो सहायता कर सकती हो
करो, प्रार्थना है इतनी।
जिससे उतनी सुखी बन सकूँ,
पहले सुखित रही जितनी ॥७२॥

सेवा उसकी करूँ साथ रह,
जी से जिसकी दासी हूँ।
हूँ न स्वार्थरत, मैं पति के-
संयोग-सुधा की प्यासी हूँ ॥७३॥

दोहा

इतने में घंटा बजा उठा आरती-थाल।
द्रुत-गति से महिजा गईं मंदिर में तत्काल ॥७४॥
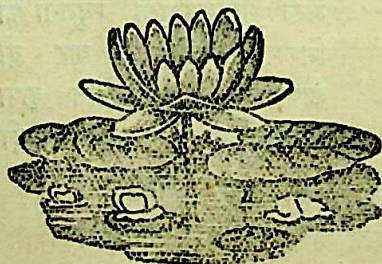
एकादश सर्ग

—++—

रिपुसूदनागमन

—*—

सखी

बादल थे नभ में छाये।
बदला था रंग समय का॥
थी प्रकृति भरी करुणा में।
कर उपचय मेघ-निचय का॥ १॥

वे विविध-रूप धारण कर।
नभ-तल में घूम रहे थे॥
गिरि के ऊँचे शिखरों को।
गौरव से चूम रहे थे॥ २॥

वे कभी स्वयं नग-सम बन।
थे अद्भुत-दृश्य दिखाते॥
कर कभी दुंदुभी-वादन।
चपला को रहे नचाते॥ ३॥

वे पहन कभी नीलाम्बर।
थे बड़े - मुग्धकर बनते॥
मुक्तावलि बलित अधर में।
अनुपम - वितान थे तनते॥ ४॥

बहुशः - खण्डों में बँटकर।
चलते फिरते दिखलाते॥
वे कभी नभ - पयोनिधि के।
थे विपुल - पोत बन पाते॥ ५॥

वे रंग बिरंगे रवि की।
किरणों से थे बन जाते॥
वे कभी प्रकृति को विलसित।
नीली - साड़ियाँ पिन्हाते॥ ६॥

वे पवन तुरंगम पर चढ़।
थे दूनी - दौड़ लगाते॥
वे कभी धूप - छाया के।
थे छविमय - दृश्य दिखाते॥ ७॥

घन कभी घेर दिन - मणि को।
थे इतनी घनता पाते॥
जो द्युति - विहीन कर, दिन को -
थे अमा - समान बनाते॥ ८॥

वे धूम - पुंज से फैले।
थे दिगन्त में दिखलाते॥
अंकस्थ - दामिनी दमके।
थे प्रचुर - प्रभा फैलाते॥ ९॥

सरिता सरोवरादिक में।
थे स्वर-लहरी उपजाते॥
वे कभी गिरा बहु-बूँदें।
थे नाना-वाद्य बजाते॥१०॥

पावस सा प्रिय-ऋतु पाकर।
बन रही रसा थी सरसा॥
जीवन प्रदान करता था।
वर-सुधा सुधाधर बरसा॥११॥

थी दृष्टि जिधर फिर जाती।
हरियाली बहुत लुभाती॥
नाचते मयूर दिखाते।
अलि-अवली मिलती गाती॥१२॥

थी घटा कभी घिर आती।
था कभी जल बरस जाता॥
थे जलद कभी खुल जाते।
रवि कभी था निकल आता॥१३॥

था मलिन कभी होता वह।
कुछ कान्ति कभी पा जाता॥
कज्जलित कभी बनता दिन।
उज्ज्वल था कभी दिखाता॥१४॥

कर उसे मलिन-बसना फिर।
काली ओढ़नी ओढ़ाती॥
थी प्रकृति कभी वसुधा को।
उज्ज्वल-साटिका पिन्हाती॥१५॥

जल-विन्दु लसित दल-चय से।
बन बन बहु-कान्त-कलेवर॥
उत्फुल्ल स्नात-जन से थे।
हो सिक्त सलिल से तरुवर॥१६॥

आ मंद-पवन के झोंके।
जब उनको गले लगाते॥
तब वे नितान्त-पुलकित हो।
थे मुक्तावलि बरसाते॥१७॥

जब पड़ती हुई फुहारें।
फूलों को रहीं रिझाती॥
जब मचल मचल मारुत से।
लतिकायें थीं लहराती॥१८॥

छवि से उड़ते छींटे में।
जब खिल जाती थीं कलियाँ॥
चमकीली बूँदों को जब।
टपकातीं सुन्दर-फलियाँ॥१९॥

जब फल रस से भर भर कर।
था परम-सरस बन जाता॥
तब हरे-भरे कानन में।
था अजब समा दिखलाता॥२०॥

वे सुखित हुए जो बहुधा।
प्यासे रह रह कर तरसे॥
झूमते हुए बादल के।
रिमझिम रिमझिम जल बरसे॥२१॥

तप - ऋतु में जो थे आकुल।
वे आज हैं फले - फूले ॥
वारिद का बदन विलोके।
बासर विपत्ति के भूले ॥२२॥

तरु-खग-चय चहक चहक कर।
थे कलोल - रत दिखलाते ॥
वे उमग उमग कर मानो।
थे वारि - वाह गुण गाते ॥२३॥

सारे - पशु वहु - पुलकित थे।
तृण - चय की देख प्रचुरता ॥
अवलोक सजल - नाना - थल।
वन - अवनी अमित - रुचिरता ॥२४॥

प्लावन - शीला थी हो हो।
आवर्त्त - जाल आवरिता ॥
थी बड़े वेग से बहती।
रस से भरिता वन - सरिता ॥२५॥

बहुशः सोते बह बह कर।
कल कल रव रहे सुनाते ॥
सर भर कर विपुल सलिल से।
थे सागर बने दिखाते ॥२६॥

उस पर वन - हरियाली ने।
था अपना मूला डाला ॥
तृण - राजि विराज रही थी।
पहने मुक्तावलि - माला ॥२७॥

पावस से प्रतिपालित हो।
वसुधानुराग प्रिय-पय पी॥
रख हरियाली मुख-लाली।
बहु-तपी दूब थी पनपी॥२८॥

मनमाना पानी पाकर।
था पुलकित विपुल दिखाता॥
पी पी रट लगा पपीहा।
था अपनी प्यास बुझाता॥२६॥

पाकर पयोद से जीवन।
तप के तापों से छूटी॥
अनुराग-मूर्त्ति 'वन, महि में।
विलसित थी बीर बहूटी॥३०॥

निज-शान्ततम निकेतन में।
बैठी मिथिलेश-कुमारी॥
हो मुग्ध विलोक रही थीं।
नव-नील-जलद छवि न्यारी॥६१॥

यह सोच रही थीं प्रियतम।
तन सा ही है यह सुन्दर॥
वैसा ही है दृग-रंजन।
वैसा ही महा-मनोहर॥३२॥

पर क्षण क्षण पर जो उसमें।
नवता है देखी जाती॥
वह नवल-नील-नीरद में।
है मुझे नहीं मिल पाती॥३३॥

श्यामलघन में बक-माला।
उड़ उड़ है छटा दिखाती॥
पर प्रिय-उर-विलसित-
मुक्ता-माला है अधिक लुभाती॥३४॥

श्यामावदात को चपला।
चमका कर है चौंकाती॥
पर प्रिय-तन-ज्योति दृगों में।
है विपुल-रस बरस जाती॥३५॥

सर्वस्व है करुण-रस का।
है द्रवण-शीलता-सम्वल॥
है मूल भव-सरसता का।
है जलद आर्द्र-अन्तस्तल॥३६॥

पर निरपराध-जन पर भी।
वह वज्रपात करता है॥
ओले बरसा कर जीवन।
बहु-जीवों का हरता है॥३७॥

है जनक प्रबल-प्लावन का।
है प्रलयंकर बन जाता॥
वह नगर, ग्राम, पुर को है।
पल में निमग्न कर पाता॥३८॥

मैं सारे गुण जलधर के।
जीवन-धन में पाती हूँ॥
उसकी जैसी ही मृदुता।
अवलोके बलि जाती हूँ॥३९॥

पर निरपराध को प्रियतम -
ने कभी नहीं कलपाया ॥
उनके हाथों से किसने ।
कब कहाँ व्यर्थ दुख पाया ॥४०॥

पुर नगर ग्राम कब उजड़े ।
कब कहाँ आपदा आई ॥
अपवाद लगाकर यों हों ।
कब जनता गई सताई ॥४१॥

प्रियतम समान जन - रंजन ।
भव - हित - रत कौन दिखाया ॥
पर सुख निमित्त कब किसने ।
दुख को यों गले लगाया ॥४२॥

घन गरज गरज कर बहुधा ।
भव का है हृदय कँपाता ॥
पर कान्त का मधुर प्रवचन ।
उर में है सुधा बहाता ॥४३॥

जिस समय जनकजा घन की ।
अवलोक दिव्य - श्यामलता ॥
थीं प्रियतम - ध्यान - निमग्ना ।
कर दूर चित्त - आकुलता ॥४४॥

आ उसी समय आलय में ।
सौमित्र - अनुज ने सादर ॥
पग - वन्दन किया सती का ।
बन करुण - भाव से कातर ॥४५॥

सीतादेवी ने उनको।
परमादर से बैठाला॥
लोचन में आये जल पर—
नियमन का परदा डाला॥४६॥

फिर कहा तात बतला दो।
रघुकुल-पुंगव हैं कैसे?॥
जैसे दिन कटते थे क्या।
अब भी कटते हैं वैसे?॥४७॥

क्या कभी याद करते हैं।
मुझ वन-निवासिनी को भी॥
उसको जिसका आकुल-मन।
है पद-पंकज-रज-लोभी॥४८॥

चातक से जिसके दृग हैं।
छवि स्वाति-सुधा के प्यासे॥
प्रतिकूल पड़ रहे हैं अब।
जिसके सुख-बासर पासे॥४९॥

जो विरह वेदनाओं से।
व्याकुल होकर है ऊबी॥
दृग-वारि-वारिनिधि में जो।
बहु-विवशा बन है डूबी॥५०॥

हैं कीर्त्ति करों से गुम्फित।
जिनकी गौरव-गाथायें॥
हैं सकुशल सुखिता मेरी।
अनुराग-मूर्त्ति मातायें?॥५१॥

हो गये महीनों उनके।
ममतामय-मुख नं दिखाये॥
पावनतम-युगल पगों को।
मेरे कर परस न पाये॥५२॥

श्रीमान् भरत-भव-भूषण।
स्नेहार्द्र सुमित्रा-नन्दन॥
सब दिनों रही करती मैं।
जिनका सादर अभिनन्दन॥५३॥

हैं स्वस्थ, सुखित या चिन्तित।
या हैं विपन्न-हित-व्रत-रत॥
या हैं लोकाराधन में।
संलग्न बन परम-संयत॥५४॥

कह कह वियोग की बातें।
माण्डवी बहुत थी रोई॥
उर्मिला गई फिर आई।
पर रात भर नहीं सोई॥५५॥

श्रुतिकीर्त्ति का कलपना तो।
अब तक है मुझे न भूला॥
हो गये याद मेरा उर।
बनता है ममता-मूला॥५६॥

यह बतला दो अब मेरी।
बहनों की गति है कैसी?
वे उतनी दुखित न हों पर,
क्या सुखित नहीं हैं वैसी?॥५७॥

क्या दशा दासियों की है।
वे दुखित तो नहीं रहतीं ॥
या स्नेह-प्रवाहों में पड़।
यातना तो नहीं सहतीं ॥५८॥

क्या वैसी ही सुखिता है।
महि की सर्वोत्तम थाती ॥
क्या अवधपुरी वैसी ही।
है दिव्य बनी दिखलाती ॥५९॥

मिट गई राज्य की हलचल।
था है वह अब भी फैली ॥
कल-कीर्त्ति सिता सी अब तक।
क्या की जाती है मैली ॥६०॥

बोले रिपुसूदन आर्य्ये।
हैं धीर धुरंधर प्रभुवर ॥
नीतिज्ञ, न्यायरत, संयत।
लोकाराधन में तत्पर ॥६१॥

गुरु-भार उन्हीं पर सारे-
साम्राज्य-संयमन का है ॥
तन मन से भव-हित-साधन।
व्रत उनके जीवन का है ॥६२॥

इस दुर्गम-तम कृति-पथ में।
थीं आप संगिनी ऐसी ॥
वैसी तुरन्त थीं बनती।
प्रियतम-प्रवृत्ति हो जैसी ॥६३॥

आश्रम - निवास ही इसका।
सर्वोत्तम - उदाहरण है॥
यह है अनुरक्ति - अलौकिक।
भव - वन्दित सदाचरण है॥६४॥

यदि रघुकुल - तिलक पुरुष हैं।
श्रीमती शक्ति हैं उनकी॥
जो प्रभुवर त्रिभुवन - पति हैं।
तो आप भक्ति हैं उनकी॥६५॥

विश्रान्ति सामने आती।
तो विरामदा थीं बनती॥
अनहित - आतप - अवलोके।
हित - वर - वितान थीं तनती॥६६॥

थीं पूर्त्ति न्यूनताओं की।
मति - अवगति थीं कहलाती॥
आपही विपत्ति विलोके।
थीं परम - शान्ति बन पाती॥६७॥

अतएव आप ही सोचें।
वे कितने होंगे विह्वल॥
पर धीर - धुरंधरता का।
नृपवर को है सच्चा - बल॥६८॥

वे इतनी तन्मयता से।
कर्त्तव्यों को हैं करते॥
इस भावुकता से वे हैं।
बहु - सद्भावों से भरते॥६९॥

इतने दृढ़ हैं कि बदन पर।
दुख - छाया नहीं दिखाती॥
कातरता सम्मुख आये।
कँप कर है कतरा जाती॥७०॥

फिर भी तो हृदय हृदय है।
वेदना - रहित क्यों होगा॥
तज हृदय - वल्लभा को क्यों।
भव - सुख जायेगा भोगा॥७१॥

जो सज्या - भवन सदा ही।
सबको हँसता दिखलाता॥
जिसको विलोक आनन्दित।
आनन्द स्वयं हो जाता॥७२॥

जिसमें बहती रहती थी।
उल्लासमयी - रस - धारा॥
जो स्वरित बना करता था।
लोकोत्तर - स्वर के द्वारा॥७३॥

इन दिनों करुण - रस से वह।
परिप्लावित है दिखलाता॥
अवलोक म्लानता उसकी।
आँखों में है जल आता॥७४॥

अनुरंजन जो करते थे।
उनकी रंगत है बदली॥
है कान्ति - विहीन दिखाती।
अनुपम रत्नों की आवली॥७५॥

मन मारे बैठी उसमें।
है सुकृतिवती दिखलाती॥
जो गीत करुण-रस-पूरित।
प्रायः रो रो है गाती॥७६॥

हो गये महीनों उसमें।
जाते न तात को देखा॥
हैं खिंची न जाने उनके।
उर में कैसी दुख-रेखा॥७७॥

बातें माताओं की मैं।
कहकर कैसे बतलाऊँ॥
उनकी सी ममता कैसे।
मैं शब्दों में भर पाऊँ॥७८॥

मेरी आकुल-आँखों को।
कबतक वह कलपायेगी॥
उनको रट यही लगी है।
कब जनक-लली आयेगी॥७९॥

आज्ञानुसार प्रभुवर के।
श्रीमती माण्डवी प्रतिदिन॥
भगिनियों, दासियों को ले।
उन सब कामों को गिन गिन॥८०॥

करती रहती हैं सादर।
थीं आप जिन्हें नित करती॥
सच्चे जी से वे सारे।
दुखियों का दुख हैं हरती॥८१॥

मातात्रों की सेवायें।
हैं बड़े लगन से होती॥
फिर भी उनकी ममता नित।
है आपके लिये रोती॥८२॥

सब हो पर कोई कैसे।
भवदीय - हृदय पायेगा॥
दिव - सुधा सुधाकर का ही।
बरतर - कर बरसायेगा॥८३॥

बहनें जनहित व्रतरत रह।
हैं बहुत कुछ स्वदुख भूली॥
पर सत्संगति हग - गति की।
है चनी असंगति फूली॥८४॥

दासियाँ क्या, नगर भर का।
यह है मार्मिक - कण्ठ - स्वर॥
जब देवी आयेंगी, कब -
आयेगा वह वर - बासर॥८५॥

है अवध शान्त अति - उन्नत।
बहु - सुख - समृद्धि - परिपूरित॥
सौभाग्य - धाम सुरपुर - सम।
रघुकुल - मणि - महिमा मुखरित॥८६॥

है साम्य - नीति के द्वारा।
सारा - साम्राज्य - सुशासित॥
लोकाराधन - मंत्रों से।
है जन - पद परम - प्रभावित॥८७॥

पर कहीं कहीं अब भी है।
कुछ हलचल पाई जाती॥
उत्पात मचा देते हैं।
अब भी कतिपय उत्पाती॥८८॥

सिरधरा उन सबों का है।
पाषाण - हृदय - लवणासुर॥
जिसने विध्वंस किये हैं।
बहु ग्राम बड़े - सुन्दर - पुर॥८९॥

उसके वध की ही आज्ञा।
प्रभुवर ने मुझको दी है॥
साथ ही उन्होंने मुझसे।
यह निश्चित बात कही है॥९०॥

केवल उसका ही वध हो।
कुछ ऐसा कौशल करना॥
लोहा दानव से लेना।
भू को न लहू से भरना॥९१॥

आज्ञानुसार कौशल से।
मैं सारे कार्य्य करूँगा॥
भव के कंटक का वध कर।
भूतल का भार हरूँगा॥९२॥

हो गया आपका दर्शन।
आशिष महर्षि से पाई॥
होगी सफला यह यात्रा।
भू में भर भूरि - भलाई॥९३॥

रिपुसूदन की बातें सुन।
जीं कभी बहुत घबराया ॥
या कभी जनक - तनया के।
आँखों में आँसू आया ॥६४॥

पर बारम्बार उन्होंने।
अपने को बहुत सँभाला ॥
धीरज - धर थाम कलेजा।
सब बातों को सुन डाला ॥६५॥

फिर कहा कुँवर - वर जाओ।
यात्रा हो सफल तुम्हारी ॥
पुरहूत का प्रबल - पवि ही।
है पर्वत - गर्व - प्रहारी ॥६६॥

है विनय यही विभुवर से।
हो प्रियतम सुयश सवाया ॥
वसुधा निमित्त बन जाये।
तव विजय कल्पतरुकाया ॥६७॥

दोहा

पग वन्दन कर ले विदा गये दनुजकुल काल।
इसी दिवस सिय ने जने युगल - अलौकिक - लाल ॥६८॥

द्वादश सर्ग

—※—

नामकरण - संस्कार

—※—

तिलोकी

शान्ति - निकेतन के समीप ही सामने।
जो देवालय था सुरपुर सा दिव्यतम॥
आज सुसज्जित हो वह सुमन - समूह से।
बना हुआ है परम - कान्त ऋतुकान्त-सम॥ १॥

ब्रह्मचारियों का दल उसमें बैठकर।
मधुर - कंठ से वेद - ध्वनि है कर रहा॥
तपस्विनी सब दिव्य - गान गा रही हैं।
जन - जन - मानस में विनोद है भर रहा॥ २॥

एक कुशासन पर कुलपति हैं राजते।
सुतों के सहित पास लसी हैं महिसुता॥
तपस्विनी - आश्रम - अधीश्वरी सजग रह।
बन बन पुलकित हैं बहु - आयोजन - रता॥ ३॥

नामकरण - सँस्कार क्रिया जब हो चुकी।
मुनिवर ने यह सादर महिजा से कहा॥
पुत्रि जनकजे उन्हें प्राप्त वह हो गया।
रविकुल - रवि का चिरवांछित जो फल रहा॥ ४॥

कोख आपकी वह लोकोत्तर - खानि है।
जिसने कुल को लाल अलौकिक दो दिये ॥
वे होंगे आलोक तम - वलित - पंथ के।
कुश - लव होंगे काल कश्मलों के लिये ॥ ५ ॥

सकुशल उनका जन्म तपोवन में हुआ।
आशा है सँस्कार सभी होंगे यहीं ॥
सकल - कलाओं - विद्याओं से हो कलित।
विरहित होंगे वे अपूर्व - गुण से नहीं ॥ ६ ॥

रिपुसूदन जिस दिवस पधारे थे यहाँ।
उसी दिवस उनके सुप्रसव ने लोक को ॥
दी थी मंगलमय यह मंजुल - सूचना।
मधुर करेंगे वे असमधुर - मधु - ओक को ॥ ७ ॥

मुझे ज्ञात यह बात हुई है आज ही।
हुआ लवण - वध हुए शत्रु - सूदन जयी ॥
द्वंद्व युद्ध कर उसको मारा उन्होंने।
पाकर अनुपम - कीर्त्ति परम - गौरवमयी ॥ ८ ॥

आशा है अब पूर्ण - शान्ति हो जायगी।
शीघ्र दूर होवेंगी बाधायें - अपर ॥
हो जायेगा जन - जन - जीवन बहु - सुखित।
जायेगा अब घर घर में आनन्द भर ॥ ९ ॥

दसकंधर का प्रिय - संबंधी लवण था।
अल्प - सहायक - सहकारी उसके न थे ॥
कई जनपदों में भी उसकी धाक थी।
बड़े सबल थे उसके ग्रसित - पालित जथे ॥१०॥

इसीलिये रघु - पुंगव ने रिपु - दमन को।
दी थी वर - वाहिनी वाहिनी - पति सहित ॥
यथा काल हो जिससे दानव - दल - दलन।
हित करते हो सके नहीं भव का अहित ॥११॥

किन्तु उन्हें जन - रक्तपात वांछित न था।
हुआ इसलिये वध दुरन्त - दनुजात का ॥
आशा है अब अन्य उठायेंगे न शिर।
यथातथ्य हो गया शमन उत्पात का ॥१२॥

जो हलचल इन दिनों राज्य में थी मची।
उन्हें देख करके जितना ही था दुखित ॥
देवि विलोके अन्त दनुज - दौरात्म्य का।
आज हो गया हूँ मैं उतना ही सुखित ॥१३॥

यदि आहव होता अनर्थ होते बड़े।
हो जाता पविपात लोक की शान्ति पर ॥
वृथा परम - पीड़ित होती कितनी प्रजा।
काल का कवल बनता मधुपुर सा नगर ॥१४॥

किन्तु नृप - शिरोमणि की संयत - नीति ने।
करवाई वह क्रिया युक्ति - सत्तामयी ॥
जिससे संकट टला अकंटक महि बनी।
हुई पूत - मानवता पशुता पर जयी ॥१५॥

मन का नियमन प्रति-पालन शुचि-नीति का।
प्रजा - पुंज - अनुरंजन भव - हित-साधना ॥
कौन कर सका भू में रघुकुल - तिलक सा।
आत्म - सुखों का त्याग लोक - आराधना ॥१६॥

देवि अन्यतम - मूर्त्ति उन्हीं की आपको।
युगल - सुअन के रूप में मिली है अतः -
अब होगी वह महा - साधना आपकी।
बनें पूततम पूत पिता के सम यतः ॥१७॥

आपके कलिततम - कर - कमलों की रची।
यह सामने लसी सुमूर्त्ति श्रीराम की॥
जो है अनुपम, जिसकी देखे दिव्यता।
कान्तिमती बन सकी विभा घनश्याम की ॥१८॥

इस महान - मन्दिर में जिसकी स्थापना।
हुई आपकी भावुकतामय - भक्ति से॥
आज नितान्त अलंकृत जो है हो गई।
किसी कान्तकर की कुसुमित - अनुरक्ति से ॥१९॥

रात रात भर दिन दिन भर जिसके निकट।
बैठ बिताती आप हैं विरह के दिवस॥
आकुलता में दे देता बहु - शान्ति है।
जिसके उज्वलतम - पुनीत - पग का परस ॥२०॥

जिसके लिये मनोहर - गजरे प्रति - दिवस।
विरच आप होती रहती हैं बहु - सुखित॥
जिसको अर्पण किये बिना फल ग्रहण भी।
नहीं आपकी सुरुचि समझती है उचित ॥२१॥

राजकीय सब परिधानों से रहित कर।
शिशु - स्वरूप में जो उसको परिणत करें॥
तो वह कुश - लव मंजु - मूर्त्ति बन जायगी।
यह विलोक मम - नयन न क्यों मुद से भरें ॥२२॥

देवि ! पति - परायणता तन्मयता तथा ।
तदीयता ही है उदीयमाना हुई ॥
उभय सुतों की आकृति में, कल - कान्ति में -
गात - श्यामता में कर अपनोदन हुई ॥२३॥

आशा है इनकी ही शुचि - अनुभूति से ।
शिशुओं में वह बीज हुआ होगा वपित ॥
पितृ - चरण के अति - उदात्त - आचरण का ।
आप उसे ही कर सकती हैं अंकुरित ॥२४॥

जननी केवल है जन जननी ही नहीं ।
उसका पद है जीवन का भी जनयिता ॥
उसमें है वह शक्ति सुत - चरित सृजन की ।
नहीं पा सका जिसे प्रकृति - कर से पिता ॥२५॥

इतनी बातें कह मुनिवर जब चुप हुए ।
आता जल जब रोक रहे थे सिय - नयन ॥
तपस्विनी - आश्रम - अधीश्वरी तब उठीं ।
और कहे ये बड़े - मनोमोहक - वचन ॥२६॥

था प्रिय - प्रातःकाल उषा की लालिमा ।
रविकर - द्वारा आरंजित थी हो रही ॥
समय के मृदुलतम - अन्तस्तल में विहँस ।
प्रकृति - सुन्दरी प्रणय - बीज थी बो रही ॥२७॥

मंद मंद मंजुल - गति से चल कर मरुत ।
वर उपवन को सौरभमय था कर रहा ॥
प्राणिमात्र में तरुओं में तृण - राजि में ।
केलि - निलय बन बहु-विनोद था भर रहा ॥२८॥

धीरें धीरे द्युमणि - कान्त - किरणावली ।
ज्योतिर्मय थी धरा - धाम को कर रही ॥
खेल रही थी कञ्चन के कल - कलस से ।
बहुत विलसती अमल - कमल-दल पर रही ॥२६॥

किसे नहीं करती विमुग्ध थी इस समय ।
बने ठने उपवन की फुलवारी लसी ॥
विकच - कुसुम के व्याज आज उत्फुल्लता ।
उसमें आकर मूर्त्तिमती बन थी बसी ॥३०॥

बेले के अलबेलेपन में आज थी ।
किसी बड़े - अलबेले की बिलसी छटा ॥
श्याम - घटा - कुसुमावलि श्यामलता मिले ।
बनी हुई थी सावन की सरसा घटा ॥३१॥

यदि प्रफुल्ल हो हो कलिकायें कुन्द की ।
मधुर हँसी हँस कर थीं दाँत निकालती ॥
आशा कर कमनीयतम - कर - स्पर्श की ।
फूली नहीं समाती थी तो मालती ॥३२॥

बहु - कुसुमित हो बनी विकच - बदना रही ।
यथातथ्य आमोदमयी हो यूथिका ॥
किसी समागत के शुभ - स्वागत के लिये ।
मँह मँह मँह मँह महक रही थी मल्लिका ॥३३॥

रंग जमाता लोक - लोचनों पर रहा ।
चंपा का चंपई रंग बन चारुतर ॥
अधिक लसित पाटल - प्रसून था हो गया ।
किसी कुँवर अनुराग - राग से भूरि भर ॥३४॥

उल्लसिता दिखलाती थी शेफालिका।
कलिकाओं के बड़े - कान्त गहने पहन॥
पंथ किसी माधव का थी अवलोकती।
मधु - ऋतु जैसी मुग्धकरी माधवी बन॥३५॥

पहन हरिततम अपने प्रिय परिधान को।
था बंधूक ललाम प्रसूनों से लसा॥
बना रही थी जपा - लालिमा को ललित।
किसी लाल की अवलोकन की लालसा॥३६॥

इसी बड़ी - सुन्दर - फुलवारी में कुसुम -
चयन निरत दो - दिव्य मूर्त्तियाँ थीं लसी॥
जिनकी चितवन में थी अनुपम - चारुता।
सरस सुधा - रस से भी थी जिनकी हँसी॥३७॥

एक रहे उन्नत - ललाट वर - विधु - वदन।
नव - नीरद - श्यामावदात नीरज - नयन॥
पीन - वक्ष आजान - बहु मांसल - वपुष।
धीर - वीर अति - सौम्य सर्व - गौरव - सदन॥३८॥

मणिमय - मुकुट - विमंडित कुण्डल - अलंकृत।
बहु - विधि मंजुल - मुक्तावलि - माला लसित॥
परमोत्तम - परिधान - वान सौंदर्य्य - धन।
लोकोत्तर - कमनीय - कलादिक - आकलित॥३९॥

थे द्वितीय नयनाभिराम विकसित - वदन।
कनक - कान्ति माधुर्य्य - मूर्त्तिमन्मथ - मथन॥
विविध - वर - वसन - लसित किरीटी - कुण्डली।
कर्म - परायण परम - तीव्र साहस - सदन॥४०॥

दोनों राजकुमार मुग्ध हो हो छटा।
थे उत्फुल्ल - प्रसूनों की अवलोकते॥
उनके कोमल - सरस - चित्त प्रायः उन्हें।
विकच - कुसुम - चय चयन से रहे रोकते॥४१॥

फिर भी पूजन के निमित्त गुरुदेव के।
उन लोगों ने थोड़े कुसुमों को चुना॥
इसी समय उपवन में कुछ ही दूर पर।
उनके कानों ने कलरव होता सुना॥४२॥

राज - नन्दिनी गिरिजा - पूजन के लिये।
उपवन - पथ से मंदिर में थीं जा रही॥
साथ में रहीं सुमुखी कई सहेलियाँ।
वे मंगलमय गीतों को थीं गा रही॥४३॥

यह दल पहुँचा जब फुलवारी के निकट।
नियति ने नियत - समय - महत्ता दी दिखा॥
प्रकृति - लेखनी ने भावी के भाल पर।
सुन्दर - लेख ललिततम - भावों का लिखा॥४४॥

राज - नन्दिनी तथा राज - नन्दन नयन।
मिले अचानक विपुल - विकच - सरसिज बने॥
बीज प्रेम का वपन हुआ तत्काल ही।
दो उर पावन - रसमय - भावों में सने॥४५॥

एक बनी श्यामली - मूर्त्ति की प्रेमिका।
तो द्वितीय उर - मध्य बसी गौरांगिनी॥
दोनों की चित - वृत्ति अचाञ्चक - पूत रह।
किसी छलकती छवि के द्वारा थी छिनी॥४६॥

उपवन था इस समय बना आनन्द - वन ।
सुमनस - मानस हरते थे सारे सुमन ॥
अधिक - हरे हो गये सकल - तरु - पुंज थे ।
चहक रहे थे विहग - वृन्द बहु - मुग्ध बन ॥४७॥

राज - नन्दिनी के शुभ - परिणय के समय ।
रचा गया था एक - स्वयंवर - दिव्यतम ॥
रही प्रतिज्ञा उस भव - धनु के भंग की ।
जो था गिरि सा गुरु कठोर था वज्र - सम ॥४८॥

धरणीतल के बड़े - धुरंधर वीर सब ।
जिसको उठा सके न अपार - प्रयत्न कर ॥
तोड़ उसे कर राज - नन्दिनी का वरण ।
उपवन के अनुरक्त बने जब योग्य - बर ॥४९॥

उसी समय अंकुरित प्रेम का बीज हो ।
यथा समय पल्लवित हुआ विस्तृत बना ॥
है विशालता उसकी विश्व - विमोहिनी ।
सुर - पादप सा है प्रशस्त उसका तना ॥५०॥

है जनता - हित - रता लोक - उपकारिका ।
है नाना - संताप - समूह - विनाशिनी ॥
है सुखदा, वरदा, प्रमोद - उत्पादिका ।
उसकी छाया है क्षिति - तल छवि - वर्द्धिनी ॥५१॥

बड़े - भाग्य से उसी अलौकिक - विटप से ।
दो लोकोत्तर - फल अब हैं भू को मिले ॥
देखे रविकुल - रवि के सुत के वर - बदन ।
उसका मानस क्यों न वनज - वन सा खिले ॥५२॥

देवि बधाई मैं देती हूँ आपको।
और चाहती हूँ यह सच्चे-हृदय से॥
चिरजीवी हों दिव्य-कोख के लाल ये।
और यशस्वी बनें पिता-सम-समय से॥५३॥

इतने ही में वर-वीणा बजने लगी।
मधुर-कण्ठ से मधुमय-देवालय बना॥
प्रेम-उत्स हो गया सरस-आलाप से।
जनक-नन्दिनी आँखों से आँसू छना॥५४॥

पद

बधाई देने आई हूँ।

गोद आपकी भरी विलोके फूली नहीं समाई हूँ॥
लालों का मुख चूम बलायें लेने को ललचाई हूँ।
ललक-भरे-लोचन से देखे बहु-पुलकित हो पाई हूँ॥
जिनका कोमल-मुख अवलोके मुदिता बनी सवाई हूँ।
जुग जुग जियें लाल वे जिनकी ललकें देख ललाई हूँ॥
विपुल-उमंग-भरे-भावों के चुने-फूल मैं लाई हूँ।
चाह यही है उन्हें चढ़ाऊँ जिनपर बहुत लुभाई हूँ॥
रीझ रीझ कर विशद-गुणों पर मैं जिसकी कहलाई हूँ।
उसे बधाई दिये कुसुमिता-लता-सदृश लहराई हूँ॥१॥५५॥

जंगल में मंगल होता है।

भव-हित-रत के लिये गरल भी बनता सरस-सुधा सोता है।
काँटे बनते हैं प्रसून-चय कुलिश मृदुलतम हो जाता है॥
महा-भयंकर परम-गहन-वन उपवन की समता पाता है।

उसको ऋद्धि सिद्धि है मिलती साधे सभी काम सधता है ॥
पाहन पानी में तिरता है, सेतु वारिनिधि पर बँधता है।
दो बाहें हों किन्तु उसे लाखों बाहों का बल मिलता है ॥
उसीके खिलाये मानवता का बहु - म्लान - वदन खिलता है।
तीन लोक कम्पितकारी अपकारी का मद वह ढाता है ॥
पाप - ताप से तप्त - धरा पर सरस - सुधा वह बरसाता है।
रघुकुल - पुंगव ऐसे ही हैं, वास्तव में वे रविकुल - रवि हैं ॥
वे प्रसून से भी कोमल हैं, पर पातक - पर्वत के पवि हैं।
सहधर्मिणी आप हैं उनकी देवि आप दिव्यतामयी हैं ॥
इसीलिये बहु - प्रबल-बलाओं पर भी आप हुई विजयी हैं।
आपकी प्रथित-सुकृति-लता के दोनों सुत दो उत्तम-फल हैं ॥
पावन-आश्रम के प्रसाद हैं, शिव - शिर - गौरव गंगाजल हैं।
पिता-पुण्य के प्रतिपादक हैं, जननी - सत्कृति के सम्बल हैं ॥
रविकुल-मानस के मराल हैं, अथवा दो उत्फुल्ल-कमल हैं।
मुनि-पुंगव की कृपा हुए वे सकल-कला- कोविद बन जावें ॥
चिरजीवें कल-कीर्त्ति सुधा पी वसुधा के गौरव कहलावें ॥२॥५६॥

तिलोकी

जब तपस्विनी - सत्यवती - गाना रुका।
जनकसुता ने सविनय मुनिवर से कहा ॥
देव ! आपकी आज्ञा शिरसा - धार्य्य है।
सदुपदेश कब नहीं लोक - हित - कर रहा ॥५७॥

जितनी मैं उपकृता हुई हूँ आपसे।
वैसे व्यापक शब्द न मेरे पास हैं ॥
जिनके द्वारा धन्यवाद दूँ आपको।
होती कब गुरु - जन को इसकी प्यास है ॥५८॥

हाँ, यह आशीर्वाद कृपा कर दीजिये।
मेरे चित को चञ्चल-मति छू ले नहीं॥
विविध व्यथायें सहूँ किन्तु पति-वांछिता।
लोकाराधन-पूत-नीति भूले नहीं॥५९॥

तपस्विनी-आश्रम-अधीश्वरी आपकी।
जैसी अति-प्रिय-संज्ञा है मृदुभाषिणी॥
हुआ आपका भाषण वैसा ही मृदुल।
कहाँ मिलेंगी ऐसी हित-अभिलाषिणी॥६०॥

अति उदार हृदया हैं, हैं भवहित-रता।
आप धर्म्म-भावों की हैं अधिकारिणी॥
हैं मेरी सुविधा-विधायिनी शान्तिदा।
मलिन-मनों में हैं शुचिता-संचारिणी॥६१॥

कभी बने जलबिन्दु कभी मोती बने।
हुए आँसुओं का आँखों से सामना॥
अनुगृहीता हुई अति कृतज्ञा बनी।
सुने आपकी भावमयी शुभ कामना॥६२॥

आप श्रीमती सत्यवती हैं सहृदया।
है कृपालुता आपकी प्रकृति में भरी॥
फिर भी देती धन्यवाद हूँ आपको।
है सद्वांछा आपकी परम-हित-करी॥६३॥

दोहा

फैला आश्रम-ओक में परम-ललित-आलोक।
मुनिवर उठे समण्डली सांग-क्रिया अवलोक॥६४॥

त्रयोदश सर्ग

—※—

जीवन-यात्रा

—※—

तिलोकी

तपस्विनी - आश्रम के लिये विदेहजा।
पुण्यमयी - पावन - प्रवृत्ति की पूर्त्ति थीं॥
तपस्विनी - गण की आदरमय - दृष्टि में।
मानवता - ममता की महती - मूर्त्ति थीं॥ १॥

ब्रह्मचर्य्य - रत वाल्मीकाश्रम - छात्र - गण।
तपोभूमि - तापस, विद्यालय - विबुध -जन॥
मूर्त्तिमती - देवी थे उनको मानते।
भक्तिभाव - सुमनाञ्जलि द्वारा कर यजन॥ २॥

अधिक - शिथिलता गर्भभार - जनिता रही।
फिर भी परहित - रता सर्वदा वे मिलीं॥
कर सेवा आश्रम - तपस्विनी - वृन्द की।
वे कब नहीं प्रभात - कमलिनी सी खिलीं॥ ३॥

उन्हें रोकती रहतीं आश्रम - स्वामिनी।
कह वे बातें जिन्हें उचित थीं जानती॥
किन्तु किसी दुख में पतिता को देखकर।
कभी नहीं उनकी ममता थी मानती॥ ४॥

देख चींटियों का दल आँटा छींटतीं।
दाना दे दे खग - कुल को थीं पालती॥
मृग - समूह के सम्मुख, उनको प्यार कर।
कोमल - हरित तृणावलि वे थीं डालती॥ ५॥

शान्ति - निकेतन के समीप के सकल - तरु।
रहते थे खग - कुल के कूजन से स्वरित॥
सदा वायु - मण्डल उसके सब ओर का।
रहता था कलकण्ठ कलित - रव से भरित॥ ६॥

किसी पेड़ पर शुक बैठे थे बोलते।
किसी पर सुनाता मैना का गान था॥
किसी पर पपीहा कहता था पी कहाँ।
किसी पर लगाता पिक अपनी तान था॥ ७॥

उसके सम्मुख के सुन्दर - मैदान में।
कहीं विलसती थी पारावत - मण्डली॥
बोल बोल कर बड़ी - अनूठी - बोलियाँ।
कहीं केलिरत रहती बहु - विहगावली॥ ८॥

इधर उधर थे मृग के शावक घूमते।
कभी छलाँगें भर मानस को मोहते॥
धीरे धीरे कभी किसी के पास जा।
भोले - दृग से उसका वदन विलोकते॥ ९॥

एक द्विरद का बच्चा कतिपय - मास का।
जनक - नन्दिनी के कर से था पला॥
प्रायः फिरता मिलता इस मैदान में।
मातृ - हीन कर जिसे प्रकृति ने था छला॥१०॥

पशु, पक्षी, क्या कीटों का भी प्रति दिवस।
जनक - नन्दिनी कर से होता था भला॥
शान्ति - निकेतन के सब ओर इसीलिये।
दिखलाती थी सर्व - भूत - हित की कला॥११॥

दो पुत्रों के प्रतिपालन का भार भी।
उन्हें बनाता था न लोक - हित से विमुख॥
यह ही उनकी हृत्तंत्री का राग था।
यह ही उनके जीवन का था सहज - सुख॥१२॥

पाँवोंवाले दोनों सुत थे हो गये।
अपनी ही धुन में वे रहते मस्त थे॥
फिर भी वे उनको सँभाल उनसे निबट।
उनकी भी सुनतीं जो आपद्ग्रस्त थे॥१३॥

थीं कितनी आश्रम - निवासिनी मोहिता।
आ प्रतिदिन अवलोकन करती थीं कई॥
नयनों में थे युगल - कुमार समा गये।
हृदयों में श्यामली - मूर्त्ति थी बस गई॥१४॥

किन्तु सहृदया सत्यवती - ममता अधिक।
थी विदेह - नन्दिनी युगल - नन्दनों पर॥
जन्मकाल ही से उनकी परिसेवना।
वह करती ही रहती थी आठो - पहर॥१५॥

इसीलिये वह थी विदेहजा - सहचरी ।
इसीलिये वे उसे बहुत थीं मानती ॥
उनके मन की कितनी ही बातें बना ।
वह लड़कों को बहलाना थी जानती ॥१६॥

कभी रिझाती उन्हें वेणु वीणा बजा ।
तरह तरह के खेल वह खेलाती कभी ॥
कभी खेलौने रखती उनके सामने ।
स्वयं खेलौना वह थी बन जाती कभी ॥१७॥

विरह - वेदना से विदेहजा जब कभी ।
व्याकुल होतीं तब थी उन्हें सँभालती ॥
गा गा करके भाव - भरे नाना - भजन ।
तपे - हृदय पर थी तर - छीटें डालती ॥१८॥

आत्रेयी की सत्यवती थी प्रिय - सखी ।
अतः उन्होंने उसके मुख से थी सुनी ॥
विदेहजा के विरह - व्यथाओं की कथा ।
जो थी वैसी पूता जैसी सुरधुनी ॥१९॥

आत्रेयी थीं बुद्धिमती - विदुषी बड़ी ।
विरह - वेदना बातें सुन होकर द्रवित ॥
शान्ति - निकेतन में आई वे एक दिन ।
तपस्विनी - आश्रम - अधीश्वरी के सहित ॥२०॥

जनक - नन्दिनी ने सादर - कर - वन्दना ।
बड़े प्रेम से उनको उचितासन दिया ॥
फिर यह सविनय परम-मधुर-स्वर से कहा ।
बहुत दिनों पर आपने पदार्पण किया ॥२१॥

आत्रेयी बोलीं हूँ क्षमाधिकारिणी।
आई हूँ मैं आज कुछ कथन के लिये॥
आपके चरित हैं अति-पावन दिव्यतम।
आपको नियति ने हैं अनुपम-गुण दिये॥२२॥

अपनी परहित-रता पुनीत-प्रवृत्ति से।
सहज-सदाशयता से सुन्दर-प्रकृति से॥
लोकरंजिनी-नीति पूत-पति-प्रीति से।
सच्ची-सहृदयता से सहजा-सुकृति से॥२३॥

'कहा, मानवी हैं देवी सी अर्चिता।
व्यथिता होते, हैं कर्त्तव्य-परायणा॥
अश्रु-विन्दुओं में भी है धृति झलकती।
अहित हुए भी रहती है हित-धारणा॥२४॥

साम्राज्ञी होकर भी सहजा-वृत्ति है।
राजनन्दिनी होकर हैं भव-सेविका॥
यद्यपि हैं सर्वाधिकारिणी धरा की।
क्षमामयी हैं तो भी आप ततोधिका॥२५॥

कभी किसी को दुख पहुँचाती हैं नहीं।
सबको सुख हो यही सोचती हैं सदा॥
कटु-बातें आनन पर आती ही नहीं।
आप सी न अवलोकी अन्य प्रियम्वदा॥२६॥

नवनीतोपम कोमलता के साथ ही।
अन्तस्तल में अतुल-विमलता है बसी॥
सात्विकता-सितता से हो उद्भासिता।
नहीं श्यामली-मूर्त्ति किसी की है लसी॥२७॥

देवि ! आप वास्तव में हैं पति - देवता।
आप वास्तविकता की सच्ची - स्फूर्त्ति हैं ॥
हैं प्रतिपत्ति प्रथित - स्वर्गीय - विभूति की।
आप सत्यता की, शिवता की मूर्त्ति हैं ॥२८॥

किन्तु देखती हूँ मैं जीवन आपका।
प्रायः है आवरित रहा आपत्ति से ॥
ले लीजिये विवाह - काल ही उस समय।
रहा स्वयंवर ग्रसित विचित्र - विपत्ति से ॥२९॥

था विवाह आधीन शंभु - धनु भंग के।
किन्तु तोड़ने से वह तो टूटा नहीं ॥
वसुंधरा के वीर थके बहु - यत्न कर।
किन्तु विफलता का कलंक छूटा नहीं ॥३०॥

देख यह दशा हुए विदेह बहुत - विकल।
हुईं आपकी जननी व्यथिता, चिन्तिता, ॥
आप रहीं रघु - पुंगव - वदन विलोकती।
कोमलता अवलोक रहीं अति - शंकिता ॥३१॥

राम - मृदुल - कर छूते ही टूटा धनुष।
लोग हुए उत्फुल्ल दूर चिन्ता हुई ॥
किन्तु कलेजों में असफल - नृप - वृन्द के।
चुभने लगी अचानक ईर्षा की सुई ॥३२॥

कहने लगे अनेक नृपति हो संगठित।
परिणय होगा नहीं टूटने से धनुष ॥
समर भयंकर होगा महिजा के लिये।
असि - धारा सुर - सरिता काटेगी कलुष ॥३३॥

राजाओं की देख युद्ध - आयोजना।
सभी हुए भयभीत कलेजे हिल गये ॥
वे भी सके न बोल न्याय प्रिय था जिन्हें।
बड़े - बड़े धीरों के मुँह भी सिल गये ॥३४॥

इसी समय भृगुकुल - पुंगव आये वहाँ।
उन्हें देख बहु - भूप भगे, बहु दब गये ॥
सब ने सोचा बहुत - बड़ा - संकट टला।
खड़े हो सकेंगे न अब बखेड़े नये ॥३५॥

पर वे तो वध - अर्थ उसे थे खोजते।
जिसने तोड़ा था उनके गुरु का धनुष ॥
यही नहीं हो हो कर परम - कुपित उसे।
कहते थे कटु - वचन परुष से भी परुष ॥३६॥

ज्ञात हुए यह, सब लोगों के रोंगटे।
खड़े हो गये लगे कलेजे काँपने ॥
किन्तु तुरन्त उन्हें अनुकूल बना लिया।
विनयी - रघुबर के कोमल - आलाप ने ॥३७॥

था यौवन का काल हृदय उत्फुल्ल था।
प्रेम - ग्रंथि दिन दिन दृढ़तम थी हो रही ॥
राज - विभव था राज्य - सदन था स्वर्ग सा।
ललक उरों में लगन बीज थी बो रही ॥३८॥

वर विलासमय बन वासर था विलसता।
रजनी पल पल पर थी अनुरंजन - रता ॥
यदि विनोद हँसता मुखड़ा था मोहता।
तो रसराज रहा ऊपर रस बरसता ॥३९॥

पितृ - सद्म - ममता न भूल मन जिस समय।
ससुर - सदन में शनैः शनैः था रम रहा॥
उन्हीं दिनों अवसर ने आकर आपसे।
समाचार पति राज्यारोहण का कहा॥४०॥

आह ! दूसरे दिवस सुना जो आपने।
किसका नहीं कलेजा उसको सुन छिला॥
कैकेई - सुत राज्य पा गये राम को।
कानन - वास चतुर्दश - वत्सर का मिला॥४१॥

कहाँ किस समय ऐसी दुर्घटना हुई।
कहते हैं इतिहास कलेजा थामकर॥
वृथा कलंकित कैकेई की मति हुई।
कहते हैं अब भी सब इसको आह भर॥४२॥

आपने दिखाया सतीत्व जो उस समय।
वह भी है लोकोत्तर, अद्भुत है महा॥
चौदह सालों तक वन में पति साथ रह।
किस कुल - बाला ने है इतना दुख सहा॥४३॥

थीं सम्राट् - वधू धराधिपति की सुता।
ऋद्धि सिद्धि कर बाँधे सम्मुख थी खड़ी॥
सकल - विभव थे आनन सदा विलोकते।
रत्नराजि थी तलवों के नीचे पड़ी॥४४॥

किन्तु आपने पल भर में सबको तजा।
प्राणनाथ के आनन को अवलोक कर॥
था यह प्रेम 'प्रतीक, पूततम - भाव का।
था यह त्याग अलौकिक, अनुपम, चकितकर॥४५॥

इस प्रवास वन - वास - काल का वह समय ।
अति-कुत्सित था, हुई जब घृणिततम - क्रिया ॥
जब आया था कञ्चन का मृग सामने ।
रावण ने जब आपका हरण था किया ॥४६॥

लंका में जो हुई यातना आपकी ।
छ महीने तक हुई साँसतें जो वहाँ ॥
जीभ कहे तो कहे किस तरह से उसे ।
उसमें उनके अनुभव का है बल कहाँ ॥४७॥

मूर्त्तिमती - दुर्गति - दानवी - प्रकोप से ।
आपने वहाँ जितनी पीड़ायें सहीं ॥
उन्हें देख आहें भरती थी आह भी ।
कम्पित होती नरक - यंत्रणायें रहीं ॥४८॥

नीचाशयता की वे चरम - विवृत्ति थीं ।
दुराचार की वे उत्कट - आवृत्ति थीं ॥
रावण वज्र - हृदयता की थीं प्रक्रिया ।
दानवता की वे दुर्दान्त - प्रवृत्ति थीं ॥४९॥

किन्तु हुआ पामरता का अवसान भी ।
पापानल में स्वयं दग्ध पापी हुआ ॥
आँच लगे कनकाभा परमोज्वल बनी ।
स्वाति - विन्दु चातकी चारु - मुख में चुआ ॥५०॥

आपके परम - पावन - पुण्य - प्रभाव से ।
महामना श्री भरत - सुकृति का बल मिले ॥
फिर वे दिन आये जो बहु वांछित रहे ।
जिन्हें लाभकर पुरजन पंकज से खिले ॥५१॥

हुआ राम का राज्य, लोक अभिरामता।
दर्शन देने लगी सब जगह दिव्य बन॥
सकल - जनपदों, नगरों, ग्रामादिकों में।
विमल - कीर्त्ति का गया मनोज्ञ वितान तन॥५२॥

सब कुछ था पर एक लाल की लालसा।
लालायित थी ललकित चित को कर रही॥
मिले काल - अनुकूल गर्भ - धारण हुआ।
युगल उरों में वर विनोद धारा बही॥५३॥

पति - इच्छा से वर - सुत - लाभ - प्रवृत्ति से।
अति - पुनीत आश्रम में आई आप हैं॥
सफल हुई कामना महा - मंगल हुआ।
किन्तु सताते नित्य विरह - संताप हैं॥५४॥

आते ही पति - मूर्त्ति बनाना स्वकर से।
उसे सजाना पहनाना गजरे बना॥
पास बैठ उसको देखा करना सतत।
करते रहना बहु - भावों की व्यंजना॥५५॥

हम लोगों को यह बतलाता नित्य था।
विरह विकलता से क्या है चित की दशा॥
कितनी पति प्राणा हैं आप, तथैव है -
कैसा पति - आनन अवलोकन का नशा॥५६॥

किन्तु यह समझ चित में रहती शान्ति थी।
अल्प - समय तक ही होगी यह यातना॥
क्योंकि रहा विश्वास प्रसव उपरान्त ही।
आपको अवध - अवनी देगी सान्त्वना॥५७॥

किन्तु देखती हूँ यह, पुत्रवती बने।
हुआ आपको एक साल से कुछ अधिक॥
किन्तु अवध की दृष्टि न फिर पाई इधर।
और आपके स्वर में स्वर भर गया पिक॥५८॥

कुलपति - आश्रम की विधि मुझको ज्ञात है।
गर्भवती - पति - रुचि के वह आधीन है॥
वह चाहे तो उसे बुला ले या न ले।
पर आश्रम का वास ही समीचीन है॥५९॥

तपोभूमि में जिसका सब सँस्कार हो।
आश्रम में ही जो शिक्षित, दीक्षित, बने॥
वह क्यों वैसा लोक - पूज्य होगा नहीं।
धरा पूत बनती है जैसा सुत जने॥६०॥

रघुकुल - पुंगव सब बातें हैं जानते।
इसीलिये हैं आप यहाँ भेजी गईं॥
कुलपति ने भी उस दिन था यह ही कहा।
देख रही हूँ आप अब यहीं की हुईं॥६१॥

आप सती हैं, हैं कर्तव्य - परायणा।
सब सह लेंगी कृति से च्युत होंगी नहीं॥
किन्तु बहु - व्यथामयी है विरह - वेदना।
उससे आप यहाँ भी नहीं बची रहीं॥६२॥

आजीवन जीवन - धन से बिछुड़ी न जो।
लंका के छ महीने जिसे छ युग बने॥
उसे क्यों न उसके दिन होंगे व्यथामय।
जिस वियोग के बरस न गिन पाये गिने॥६३॥

आह ! कहूँ क्या प्रायः जीवन आपका।
रहा आपदाओं के कर में ही पड़ा ॥
देख यहाँ के सुख में भी दुख आपका।
मेरा जी बन जाता है व्याकुल बड़ा ॥६४॥

पर विलोककर अनुपम - निग्रह आपका।
देखे धीर धुरंधर जैसी धीरता ॥
पर दुख कातरता उदारता से भरी।
अवलोकन कर नयन - नीर की नीरता ॥६५॥

होता है विश्वास विरह - जनिता - व्यथा।
बनेगी न बाधिका पुनीत - प्रवृत्ति की ॥
दूर करेगी उर - विरक्ति को सर्वदा।
ममता जनता - विविध - विपत्ति - निवृत्ति की ॥६६॥

पड़ विपत्तियों में भी कब पर - हित - रता।
पर का हित करने से है मुँह मोड़ती ॥
बँधती गिरती टकराती है शिला से।
है न सरसता को सुरसरिता छोड़ती ॥६७॥

महि में महिमामय अनेक हो गये हैं।
यथा समय कम हुई नहीं महिमामयी ॥
पर प्रायः सब विविध - संकटों में पड़े।
किन्तु हुए उनपर स्वआत्मबल से जयी ॥६८॥

मलिन - मानसों की मलीनता दूर कर।
भरती रहती है भूतल में भव्यता ॥
है फूटती दिखाती संकट - तिमिर में।
दिव्य - जनों या देवों ही की दिव्यता ॥६९॥

आश्रम की कुछ ब्रह्मचारिणी - मूर्त्तियाँ ।
ऐसी हैं जिनमें है भौतिकत्ता भरी ॥
किन्तु आपके लोकोत्तर - आदर्श ने ।
उनकी कितनी बुरी - वृत्तियाँ हैं हरी ॥७०॥

इस विचार से भी पधारना आपका ।
तपस्विनी - आश्रम का उपकारक हुआ ॥
निज प्रभाव का वर - आलोक प्रदान कर ।
कितने मानस - तम का संहारक हुआ ॥७१॥

है समाप्त हो गया यहाँ का अध्ययन ।
अब अगस्त - आथम में मैं हूँ जा रही ॥
विदा ग्रहण के लिये उपस्थित हुई हूँ ।
यद्यपि मुझे पृथक्ता है कलपा रही ॥७२॥

है कामना अलौकिक दोनों लाड़िले ।
पुण्य - पुंज के पूत - प्रतीक प्रतीत हों ॥
तज अवैध - गति विधि - विधान-सर्वस्व बन ।
आपके विरह - वासर शीघ्र व्यतीत हों ॥७३॥

जनक - नन्दिनी ने अन्याश्रम - गमन सुन ।
कहा आप जायें मंगल हो आपका ॥
अहह कहाँ पाऊँगी विदुषी आप सी ।
आपका वचन पय था मम - संताप का ॥७४॥

अनुसूया देवी सी वर - विद्यावती ।
सदाचारिणी सर्व - शास्त्र - पारंगता ॥
यदि मैंने देखी तो देखी आपको ।
वैसी ही हैं आप सुधी पर - हित - रता ॥७५॥

जो उपदेश उन्होंने मुझको दिये हैं।
वे मेरे जीवन के प्रिय - अवलम्ब हैं॥
उपवन रूपी मेरे मानस के लिये।
सुरभित करनेवाले कुसुम - कदम्ब हैं॥७६॥

कहूँ आपसे क्या सब कुछ हैं जानती।
पति - वियोग-दुख सा जग में है कौन दुख॥
तुच्छ सामने उसके भव - सम्पत्ति है।
पति - सुख पत्नी के निमित्त है स्वर्ग - सुख॥७७॥

अन्तर का परदा रह जाता ही नहीं।
एक रंग ही में रँग जाते हैं उभय॥
जीवन का सुख तब हो जाता है द्विगुण।
बन जाते हैं एक जब मिले दो हृदय॥७८॥

रहे इसी पथ के मम जीवन - धन पथिक।
यही ध्येय मेरा भी आजीवन रहा॥
किन्तु करे संयोग के लिये यत्न क्या।
आकस्मिक - घटना दुख देती है महा॥७९॥

कार्य्य - सिद्धि के सारे - साधन मिल गये।
कृत्यों में त्रुटि - लेश भी न होते कहीं॥
आये विघ्न अचिन्तनीय यदि सामने।
तो नितान्त - चिन्तित चित क्यों होगा नहीं॥८०॥

जब उसका दर्शन भी दुर्लभ हो गया।
जो जीवन का सम्बल अवलम्बन रहा॥
तो आवेग बनाये क्यों आकुल नहीं।
कैसे तो उद्वेग वेग जाये सहा॥८१॥

भूल न पाईं वे बातें ममतामयी।
प्रीति-सुधा से सिक्त सर्वदा जो रहीं॥
स्मृति यदि है मेरे जीवन की सहचरी।
अहह आत्म-विस्मृति तो क्यों होगी नहीं॥८२॥

बिना वारि के मीन बने वे आज हैं।
रहे जो नयन सदा स्नेह-रस में सने॥
भला न कैसे हो मेरी मति बावली।
क्यों प्रमत्त उन्मत्त नहीं ममता बने॥८३॥

रविकुल-रवि का आनन अवलोके बिना।
सरस शरद-सरसीरुह से वे क्यों खिलें॥
क्यों न ललकते आकुल हो तारे रहें।
क्यों न छलकते आँखों में आँसू मिलें॥८४॥

कलपेगा आकुल होता ही रहेगा।
व्यथित बनेगा करेगा न मति की कही॥
निज-वल्लभ को भूल न पायेगा कभी।
हृदय हृदय है सदा रहेगा हृदय ही॥८५॥

भूल सकेंगे कभी नहीं वे दिव्य-दिन।
भव्य-भावनायें जब दम भरती रहीं॥
कान रहे जब सुनते परम रुचिर-वचन।
आँखें जब छबि-सुधा-पान करती रहीं॥८६॥

कभी समीर नहीं होगा गति से रहित।
होगा सलिल तरंगहीन न किसी समय॥
कभी अभाव न होगा भाव-विभाव का।
कभी भावना-हीन नहीं होगा हृदय॥८७॥

यह स्वाभाविकता है इससे बच सका -
कौन, सभी इस मोह - जाल में हैं फँसे ॥
सारे अन्तस्तल में इसकी व्याप्ति है।
मन - प्रसून हैं बास से इसी के बसे ॥८८॥

विरह - जन्य मेरी पीड़ायें हैं प्रकृत।
किन्तु कभी कर्तव्य - हीन हूँगी न मैं॥
प्रिय - अभिलाषायें जो हैं प्राणेश की।
किसी काल में उनको भूलूँगी न मैं ॥८९॥

विरह - वेदनाओं में यदि है सबलता।
उनके शासक तो प्रियतम - आदेश हैं॥
जो हैं पावन परम न्याय - संगत उचित।
भव - हितकारक जो सच्चे उपदेश हैं ॥९०॥

महामना नृप - नीति - परायण दिव्य - धी।
धर्म - धुरंधर दृढ़ - प्रतिज्ञ पति - देव हैं॥
फिर भी हैं करुणानिधान बहु दयामय।
लोकाराधन के विशेष अनुरक्त हैं ॥९१॥

आत्म - सुख - विसर्जन करके भी वे इसे।
करते आये हैं आजीवन करेंगे॥
बिना किये परवा दुस्तर - आवर्त्त की।
आपदाब्धि - मज्जित - जन का दुख हरेंगे ॥९२॥

निज - कुटुम्ब का ही, न, एक साम्राज्य का।
भार उन्हीं पर है, जो है गुरुतर महा॥
सारी उचित व्यवस्थाओं का सर्वदा।
अधिकारी महि में नृप - सत्तम ही रहा ॥९३॥

सुतों के सहित मेरे आश्रम - वास से।
देश, जाति, कुल, का यदि होता है भला॥
अन्य व्यवस्था तो कैसे हो सकेगी।
सदा तुलेगी तुल्य न्याय - शीला - तुला॥९४॥

रघुकुल - पुंगव की मैं हूँ सहधर्म्मिणी।
जो है उनका धर्म्म वही मम - धर्म्म है॥
भली भाँति मम - उर उसको है जानता।
उनके प्रिय - सिद्धान्तों का जो मर्म्म है॥९५॥

उनकी आज्ञा का पालन मम - ध्येय है।
उनका प्रिय - साधन ही मम - कर्तव्य है॥
उनका ही अनुगमन परम - प्रिय - कार्य्य है।
उनकी अभिरुचि मम - जीवन - मन्तव्य है॥९६॥

विरह - वेदनायें हों किन्तु प्रसन्नता।
उनकी मुझे प्रसन्न बनाती रहेगी॥
मम - ममता देखे पति - प्रिय-साधन बदन।
सर्व यातनायें सुखपूर्वक सहेगी॥९७॥

दोहा

नमन जनकजा ने किया, कह अन्तस्तल - हाल।
विदा हुई कह शुभ - वचन आत्रेयी तत्काल॥९८॥

चतुर्दश सर्ग

—※—

दाम्पत्य - दिव्यता

—*—

तिलोकी

प्रकृति - सुन्दरी रही दिव्य - वसना बनी।
कुसुमाकर द्वारा कुसुमित कान्तार था॥
मंद मंद थी रही विहँसती दिग्वधू।
फूलों के मिष समुत्फुल्ल संसार था॥१॥

मलयानिल वह मंद मंद सौरभ - बितर।
वसुधातल को बहु - विमुग्ध था कर रहा॥
स्फूर्तिमयी - मत्तता - विकचता - रुचिरता।
प्राणि मात्र अन्तस्तल में था भर रहा॥२॥

शिशिर - शीत शिथिलित - तन - शिरा - समूह में।
समय शक्ति - संचार के लिये लग्न था॥
परिवर्त्तन की परम - मनोहर - प्रगति पा।
तरु से तृण तक छवि - प्रवाह में मग्न था॥३॥

कितने पादप लाल - लाल - कोंपल मिले।
ऋतु - पति के अनुराग - राग में थे रँगे॥
बने मंजु - परिधानवान थे बहु - विटप।
शाखाओं में हरित - नवल - दल के लगे॥४॥

कितने फल फूलों से थे ऐसे लसे।
जिन्हें देखने को लोचन थे तरसते॥
कितने थे इतने प्रफुल्ल इतने सरस।
ललक - दृगों में भी जो थे रस बरसते॥५॥

रुचिर - रसाल हरे दृग - रंजन - दलों में।
लिये मंजु - मंजरी भूरि - सौरभ भरी॥
था सौरभित बनाता वातावरण को।
नचा मानसों में विमुग्धता की परी॥६॥

लाल - लाल - दल - ललित - लालिमा से विलस।
वर्णन कर मर्मर - ध्वनि से विरुदावली॥
मधु - ऋतु के स्वागत करने में मत्त था।
मधु से भरित मधूक बरस सुमनावली॥७॥

रख मुँह - लाली लाल - लाल - कुसुमालि से।
लोक ललकते - लोचन में थे लस रहे॥
देख अलौकिक - कला किसी छविकान्त की।
दाँत निकाले थे अनार - तरु हँस रहे॥८॥

करते थे विस्तार किसी की कीत्ति का।
कितनों में अनुरक्ति उसी की भर सके॥
दिखा विकचता, उज्वलता, वर - अरुणिमा।
श्वेत - रक्त कमनीय - कुसुम कचनार के॥९॥

होता था यह ज्ञात भानुजा - अंक में।
पीले - पीले - विकच वहु - बनज हैं लसे॥
हरित - दलों में पीताभा की छवि दिखा।
थे कदम्ब - तरु विलसित कुसुम - कदम्ब से॥१०॥

कौन नयनवाला प्रफुल्ल बनता नहीं।
भला नहीं खिलती किसके जी की कली॥
देखे प्रिय हरियाली, विशद - विशालता।
अवलोके सेमल - ललाम - सुमनावली॥११॥

नाच नाच कर रीझ भर सहज - भाव में।
किसी समागत को थे बहुत रिझा रहे॥
बार बार मलयानिल से मिल मिल गले।
चल दल - दल थे गीत मनोहर गा रहे॥१२॥

स्तंभ - राजि से सज कुसुमावलि से विलस।
मिले सहज - शीतल - छविमय - छाया भली॥
हरित - नवल - दल से बन सघन जहाँ तहाँ।
तंबू तान रही थी बट - विटपावली॥१३॥

किसको नहीं बना देता है वह सरस।
भला नहीं कैसे होते वे रस भरे॥
नारंगी पर रंग उसी का है चढ़ा।
हैं बसंत के रंग में रँगे संतरे॥१४॥

अंक विलसता कैसे कुसुम - समूह से।
हरे हरे दल उसे नहीं मिलते कहीं॥
नीरसता होती न दूर जो मधु मिले।
तो होता जंबीर नीर - पूरित नहीं॥१५॥

कंटकिता - बदरी तो कैसे विलसती।
हो उदार सफला बन क्यों करती भला॥
जो प्रफुल्लता मधु भरता भू में नहीं।
कोविदार कैसे बनता फूला फला॥१६॥

दिखा श्यामली - मूर्त्ति की मनोहर - छटा।
बन सकता था वह बहु - फलदाता नहीं॥
पाँव न जो जमता महि में ऋतुराज का।
तो जम्बू निज - रंग जमा पाता नहीं॥१७॥

कोमलतम किशलय से कान्त नितान्त वन।
दिखा नील-जलधर जैसी अभिरामता॥
कुसुमायुध की सी कमनीया-कान्ति पा।
मोहित करती थी तमाल-तरु-श्यामता॥१८॥

मलयानिल की मंथर-गति पर मुग्ध हो।
करती रहती थीं बनठन अठखेलियाँ॥
फूल ब्याज से बार बार उत्फुल्ल हो।
विलस विलस कर बहु-अलवेली-बेलियाँ॥१९॥

हरे-दलों से हिल मिल खिलती थीं बहुत।
कभी थिरकतीं लहरातीं बनतीं कलित॥
कभी कान्त-कुसुमावलि के गहने पहन।
लतिकायें करती थीं लीलायें ललित॥२०॥

कभी मधु-मधुरिमा से बनती छबिमयी।
कभी निछावर करती थी मुक्तावली॥
सजी-साटिका पहनाती थी अवनि को।
विविध-कुसुम-कुल-कलिता हरित-तृणावली॥२१॥

दिये हरित-दल उन्हें लाल जोड़े मिले।
या अनुरक्ति-अरुणिमा ऊपर आ गई॥
लाल-लाल-फूलों से विपुल-पलाश के।
कानन में थी ललित-लालिमा छा गई॥२२॥

उन्हें बड़े-सुन्दर-लिबास थे मिल गये।
छटा छिटिक थी रही बाँस-खूँटियों पर॥
आज बेल-बूटों से वे थीं विलसती।
टूटी पड़ती थी विभूति बूटियों पर॥२३॥

सब दिन जिस पलने पर प्यारा - तन पला।
देती थी उसकी महती - कृति का पता॥
दिखा दिखा कर हरीतिमा की मधुर - छबि।
नव - दूर्वा दे महि को मोहक - श्यामता॥24॥

कोकिल की काकली तितिलियों का नटन।
खग - कुल - कूजन रंग - बिरंगी वन - लता॥
अजब - समा थीं बाँध रही छवि पुंजता।
गुंजन - सहित मिलिन्द - वृन्द की मत्तता॥25॥

वर - बासर बरबस था मन को मोहता।
मलयानिल बहु - मुग्ध बना था परसता॥
थी चौगुनी चमकती निशि में चाँदनी।
सरसतम - सुधा रहा सुधाकर बरसता॥26॥

मधु - विकास में मूर्त्तिमान - सौंदर्य्य था।
वांछित - छबि से बनी छबीली थी मही॥
पत्ते पत्ते में प्रफुल्लता थी भरी।
वन में नर्त्तन विमुग्धता थी कर रही॥27॥

समय सुनाता वह उन्मादक - राग था।
जिसमें अभिमंत्रित - रसमय - स्वर थे भरे॥
भव - हृत्तंत्री के छिड़ते वे तार थे।
जिनकी ध्वनि सुन होते सूखे - तरु हरे॥28॥

सौरभ में थी ऐसी व्यापक - भूरिता।
तन वाले निज तन - सुधि जाते भूल थे॥
मोहकता - डाली हरियाली थी लिये।
फूल नहीं समाते फूले फूल थे॥29॥

शान्ति - निकेतन के सुन्दर - उद्यान में ।
जनक - नन्दिनी सुतों - सहित थीं घूमती ।।
उन्हें दिखाती थीं कुसुमावलि की छटा ।
बार बार उनके मुख को थीं चूमती ।।३०।।

था प्रभात का समय दिवस - मणि-दिव्यता ।
अवनीतल को ज्योतिर्मय थी कर रही ।।
आलिंगन कर विटप, लता, तृण, आदि का ।
कान्तिमय - किरण कानन में थी भर रही ।।३१।।

युगल - सुअन थे पाँच साल के हो चले ।
उन्हें बनाती थी प्रफुल्ल कुसुमावली ।।
कभी तितिलियों के पीछे वे दौड़ते ।
कभी किलकते सुन कोकिल की काकली ।।३२।।

ठुमुक ठुमुक चल किसी फूल के पास जा ।
विहँस विहँस थे तुतली - वाणी बोलते ।।
टूटी फूटी निज पदावली में उमग ।
बार बार थे सरस - सुधारस घोलते ।।३३।।

दिखा दिखा कर श्याम-घटा की प्रिय - छटा ।
दोनों - सुअनों से यह कहतीं महि - सुता ।।
ऐसे ही श्यामावदात कमनीय - तन ।
प्यारे पुत्रों तुम लोगों के हैं पिता ।।३४।।

कहतीं कभी विलोक गुलाब प्रसून की ।
बहु - विमुग्ध - कारिणी विचित्र - प्रफुल्लता ।।
हैं ऐसे ही विकच - बदन रघुवंश - मणि ।
ऐसी ही है इनमें महा - मनोज्ञता ।।३५।।

नाम बताकर कुन्द, यूथिका आदि का।
दिखा रुचिरता कुसुम श्वेत - अवदात की ॥
कहतीं ऐसी ही है कीर्त्ति समुज्वला।
तुम दोनों प्रिय - भ्राताओं के तात की ॥३६॥

लोक - रञ्जिनी ललामता से लालिता।
दिखा जपा सुमनावलि की प्रिय - लालिमा ॥
कहती थीं यह, तुम दोनों के जनक की।
ऐसी ही अनुरक्ति है रहित कालिमा ॥३७॥

हरित - नवल - दल में दिखला अंगजों को।
पीले पीले कुसुमों की वर विकचता ॥
कहती यह थीं ऐसा ही पति - देव के।
श्यामल - तन पर पीताम्बर है विलसता ॥३८॥

इस प्रकार जब जनक - नन्दिनी सुतों को।
आनन्दित कर पति-गुण- गण थीं गा रही ॥
रीझ रीझ कर उनके बाल - विनोद पर।
निज - वचनों से जब थीं उन्हें रिझा रही ॥३९॥

उसी समय विज्ञानवती आकर वहाँ।
शिशु - लीलायें अवलोकन करने लगी ॥
रमणी - सुलभ - स्वभाव के वशीभूत हो।
उनके अनुरञ्जन के रंगों में रँगी ॥४०॥

यह थी विदुषी - ब्रह्मचारिणी प्रायशः।
मिलती रहती थी अवनी - नन्दिनी से ॥
तर्क वितर्क उठा बहु - बातें - हितकरी।
सीखा करती थी स्वमत सहिती से ॥४१॥

आया देख उसे सादर महिसुता ने।
बैठाला फिर सत्यवती से यह कहा ॥
आप कृपा कर लव - कुश को अवलोकिये ।
अब न मुझे अवसर बहलाने का रहा ॥४२॥

समागता के पास बैठकर जनकजा ।
बोलीं कैसे आज आप आईं यहाँ ॥
मुसकराकर विज्ञानवती ने यह कहा ।
उठने पर कुछ तर्क और जाऊँ कहाँ ॥४३॥

देवि ! आत्म - सुख ही प्रधान है विश्व में ।
किसे आत्म - गौरव अतिशय प्यारा नहीं ॥
स्वार्थ सर्व - जन - जीवन का सर्वस्व है ।
है हित - ज्योति - रहित अन्तर तारा नहीं ॥४४॥

भिन्न - प्रकृति से कभी प्रकृति मिलती नहीं ।
अहंभाव है परिपूरित संसार में ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, स्वर है भरा ।
प्राणि मात्र के हृत्तंत्री के तार में ॥४५॥

है विवाह - बंधन ऐसा बंधन नहीं ।
स्वाभाविकता जिसे तोड़ पाती नहीं ॥
विविध - परिस्थितियाँ हैं ऐसी बलवती ।
जिससे मुँह चितवृत्ति मोड़ पाती नहीं ॥४६॥

कृत्रिमता है उस कुज्झटिका - सदृश जो ।
नहीं ठहर पाती विभेद - रविकर परस ॥
उससे कलुषित होती रहती है सुरुचि ।
अमरस बनता रहता है मानस सरस ॥४७॥

हैं सच्चा - व्यवहार शुचि - हृदय का विभव।
प्रीति - प्रतीति - निकेत परस्परता - अयन ॥
उर की ग्रंथि विमोचन में समधिक - निपुण।
परम - भव्य - मानस - सद्भावों का भवन ॥४८॥

कृत्रिमता है कपट कुटिलता सहचरी।
मंजुल - मानसता की है अवमानना ॥
सहज - सदाशयता पद - पूजन त्यागकर।
यह है करती प्रवंचना की अर्चना ॥४९॥

किन्तु देखती हूँ मैं यह बहु - घरों में।
सदाचरण से अन्यथाचरण है अधिक ॥
कभी कभी सुख - लिप्सादिक से बलित चित।
सत्प्रवृत्ति - हरिणी का बनता है बधिक ॥५०॥

भव - मंगल - कामना तथा स्थिति - हेतु से।
नर नारी का नियति ने किया है सृजन ॥
हैं अपूर्ण दोनों पर उनको पूर्णता।
है प्रदान करता दोनों का सम्मिलन ॥५१॥

प्राणी में ही नहीं, तृणों तक में यही।
अटल व्यवस्था दिखलाती है स्थापिता ॥
जो बतलाती है विधि - नियम - अबाधता।
अनुल्लंघनीयता तथा कृतकार्य्यता ॥५२॥

यदि यथेच्छ आहार - विहार - उपेत हो।
नर नारी जीवन, तो होगी अधिकता -
पशु - प्रवृत्ति की, औ उच्छृंखलता बढ़े।
होवेगी दुर्दशा - मर्दिता - मनुजता ॥५३॥

पशु - पक्षी के जोड़े भी हैं दीखते।
वे भी हैं दाम्पत्य - बंधनों में बँधे ॥
वांछनीय है नर - नारी की युग्मता।
सारे - मंत्र इसी साधन से ही सधे ॥५४॥

इसीलिये है विधि - विवाह की पूततम।
निगमागम द्वारा है वह प्रतिपादिता ॥
है द्विविधा हरती कर सुविधा का सृजन।
वह दे, वसुधा को दिव जैसी दिव्यता ॥५५॥

जिससे होते एक हैं मिले दो हृदय।
सरस - सुधा - धारायें सदनों में बहीं ॥
भूति - मान बनते हैं जिससे भुवन - जन।
वह विधान अभिनन्दित होगा क्यों नहीं ॥५६॥

कुल, कुटुम्ब, गृह जिससे है बहु - गौरवित।
सामाजिकता है जिससे सम्मानिता ॥
महनीया जिससे मानवता हो सकी।
क्यों न बनेगी प्रथित प्रथा वह आद्रिता ॥५७॥

किन्तु प्रश्न यह है प्रायः जो विषमता।
होती रहती है मानसिक - प्रवृत्ति में ॥
भ्रम, प्रमाद अथवा सुख - लिप्सा आदि से।
कैसे वह न घुसे दम्पति - अनुरक्ति में ॥५८॥

पति - देवता हुई हैं होंगी और हैं।
किन्तु सदा उनकी संख्या थोड़ी रही ॥
मिलीं अधिकतर सांसारिकता में सधी।
कितनी करती हैं कृत्रिमता की कही ॥५९॥

मुझे ज्ञात है, है गुण - दोषमयी - प्रकृति ।
किन्तु क्यों न उर में वे धारायें बहें ॥
सकल - विषमताओं को जिनसे दूरकर ।
होते भिन्न अभिन्न - हृदय दम्पति रहें ॥६०॥

किसी काल में क्या ऐसा होगा नहीं ।
क्या इतनी महती न बनेगी मनुजता ॥
सदन सदन जिससे बन जाये सुर - सदन ।
क्या बुध - वृन्द न देंगे ऐसी विधि बता ॥६१॥

अति - पावन - बंधन में जो विधि से बँधे ।
क्यों उनमें न प्रतीति - प्रीति भरपूर हो ॥
देवि आप मर्मज्ञ हैं बतायें मुझे ।
क्यों दुर्भाव - दुरित दम्पति का दूर हो ॥६२॥

कहा जनकजा ने मैं विबुधे आपको ।
क्या बतलाऊँ आप क्या नहीं जानतीं ॥
यह उदारता, सहृदयता है आपकी ।
जो स्वविषय - मर्मज्ञ मुझे हैं मानती ॥६३॥

देख प्रकृति की कुत्सित - कृतियों को दुखित ।
मैं भी वैसी ही हूँ जैसी आप हैं ॥
किसको रोमाञ्चित करते हैं वे नहीं ।
भव में भरे हुए जितने संताप हैं ॥६४॥

इस प्रकार के भी कतिपय - मतिमान हैं ।
जो दुख में करते हैं सुख की कल्पना ॥
अनहित में भी जो हित हैं अवलोकते ।
औरों के कहने को कहकर जल्पना ॥६५॥

जो हो, पर परिताप किसे हैं छोड़ते।
है विडम्बना विधि की पड़ी - बलीयसी॥
चिन्तित विचलित बार बार बहु आकुलित।
किसे नहीं करती प्रवृत्ति - पापीयसी॥६६॥

विवुध - वृन्द ने क्या वतलाया है नहीं।
निगमागम में सब विभूतियाँ हैं भरी॥
किन्तु पड़ प्रकृति और परिस्थिति - लहर में।
कुमति - सरी में है डूबती सुमति - सरी॥६७॥

सारे - मनोविकार हृदय के भाव सब।
इन्द्रिय के व्यापार आत्महित - भावना॥
सुख - लिप्सा गौरव - ममता मानस्पृहा।
स्वार्थ - सिद्धि - रुचि इष्ट - प्राप्ति की कामना॥६८॥

नर नारी में हैं समान, अनुभूति भी -
इसीलिये प्रायः उनकी है एक सी॥
कब किसका कैसा होता परिणाम है।
क्या वश में है औ किसमें है बेबसी॥६६॥

क्यों उलझी - बातें भी जाती हैं सुलझ।
कैसे कब जी में पड़ जाती गाँठ है॥
हरा भरा कैसे रहता है हृदय - तरु।
कैसे मन बन जाता उकठा - काठ है॥७०॥

कैसे अन्तस्तल - नभ में उठ प्रेम घन।
जीवन - दायक बनता है जीवन बरस॥
मेल - जोल तन क्यों होता निर्जीव है।
मनोमलिनता रूपी चपला को परस॥७१॥

कैसे अमधुर कहलाता है मधुरतम।
कैसे असरस बन जाता है सरस - चित॥
क्यों अकलित लगता है सोने का सदन।
कुसुम - सेज कैसे होती है कंटकित॥७२॥

अवगुण - तारक - चय - परिदर्शन के लिये।
क्यों मति बन जाती है नभतल - नीलिमा॥
जाती है प्रतिकूल - कालिमा से बदल।
क्यों अनुराग - रँगी - आँखों की लालिमा॥७३॥

क्यों अप्रीति पा जाती है उसमें जगह।
जो उर - प्रीति - निकेतन था जाना गया॥
कैसे कटु बनता है वह मधुमय - वचन।
कर्ण - रसायन जिसको था माना गया॥७४॥

जो होते यह बोध जानते मर्म्म सब।
दम्पति को अन्यथाचरण से प्रीति हो॥
तो यह है अति - मर्म - वेधिनी आपदा।
क्या विचित्र! दुर्नीति यदि भरित - भीति हो॥७५॥

जो नर नारी एक सूत्र में बद्ध हैं।
जिनका जीवन भर का प्रिय - सम्बन्ध है॥
जो समाज के सम्मुख सद्विधि से बँधे।
जिनका मिलन नियति का पूत - प्रबंध है॥७६॥

उन दोनों के हृदय न जो होवें मिले।
एक दूसरे पर न अगर उत्सर्ग हो॥
सुख में दुख में जो हो प्रीति न एक सी।
स्वर्ग सा सुखद जो न युगल - संसर्ग हो॥७७॥

तो इससे बढ़कर दुष्कृति है कौन सी।
पड़ेगा कलेजा सत्कृति को थामना ॥
हुए सभ्यता - दुर्गति पशुता करों से।
होगी मानवता की अति - अवमानना ॥७८॥

प्रकृति - भिन्नता करती है प्रतिकूलता।
भ्रम, प्रमादि आदिक विहीन मन है नहीं ॥
कहीं अज्ञता अहँक बनाती है विवश।
मति - मलीनता है विपत्ति ढाती कहीं ॥७९॥

है प्रवृत्ति नर नारी की त्रिगुणात्मिका।
सब में सत, रज, तम, सत्ता है सम नहीं ॥
उनकी मात्रा में होती है भिन्नता।
देश काल औ पात्र - भेद है कम नहीं ॥८०॥

अन्तराय ए साधन हैं ऐसे सबल।
जो प्राणी को हैं पचड़ों में डालते ॥
पंच - भूत भी अल्प प्रपंची हैं नहीं।
वे भी कब हैं तम में दीपक बालते ॥८१॥

ऐसे अवसर पर प्राणी को बन प्रबल।
आत्म - शक्ति की शक्ति दिखाना चाहिये ॥
सत्प्रवृत्ति से दुष्प्रवृत्तियों को दबा।
तम में अन्तर्ज्योति - जगाना चाहिये ॥८२॥

सत्य है, प्रकृति होती है अति - बलवती।
किन्तु आत्मिक - सत्ता है उससे सबल ॥
भौतिकता यदि करे भूतपन भूत बन।
क्यों न उसे आध्यात्मिकता तो दे मसल ॥८३॥

जिसमें सारी - सुख - लिप्सायें हों भरी।
जो परिमित होवे आहार - विहार तक॥
उस प्रसून के ऐसा है तो प्रेम वह।
जिसमें मिले न रूप रंग न तो महँक॥८४॥

जिसमें लाग नहीं लगती है लगन की।
जिसमें डटकर प्रेम ने न आँचें सहीं॥
जिसमें सह सह साँसतें न स्थिरता रही।
कहते हैं 'दाम्पत्य - धर्म उसको नहीं॥८५॥

जहाँ प्रेम सा दिव्य - दिवाकर है उदित।
कैसे दिखलायेगा तामस - तम वहीं॥
दम्पति को तो दम्पति कोई क्यों कहे।
जिसमें है दाम्पत्य - दिव्यता ही नहीं॥८६॥

निज - प्रवाह में बहा अपावन - वृत्तियाँ।
जो न प्रेम धारायें उर में हों बही॥
तो दम्पति की हित - विधायिनी वासना।
पायेगी सुर - सरिता - पावनता नहीं॥८७॥

जिसे तरंगित करता रहता है सदा।
मंजु सम्मिलन - शीतल - मृदुगामी अनिल॥
खिले मिले जिसमें सद्भावों के कमल।
है दम्पति का प्रेम वह सरोवर - सलिल॥८८॥

उसमें है सात्विक - प्रवृत्ति - सुमनावली।
उसमें सुरतरु सा विलसित भव - क्षेम है॥
सकल - लोक अभिनन्दन - सुख-सौरभ - भरित।
नन्दन - वन सा अनुपम दम्पति - प्रेम है॥८९॥

है सुन्दर - साधना कामना - पूर्त्ति की।
भरी हुई है उसमें शुचि - हितकारिता ॥
है विधायिनी विधि - संगत वर - भूति की।
कल्पलता सी दम्पति की सहकारिता ॥६०॥

है सद्भाव समूह धरातल के लिये।
सर्व - काल सेचन - रत पावस का जलद ॥
फूला फला मनोज्ञ कामप्रद कान्त - तन।
है दम्पति का प्रेम कल्पतरु सा फलद ॥६१॥

है विभिन्नता की हरती उद्भावना।
रहने देती नहीं अकान्त - अनेकता ॥
है पयस्विनी - सदृश प्रकृत - प्रतिपालिका।
कामधेनु - कामद है दम्पति - एकता ॥६२॥

पूत - कलेवर दिव्य - देवतों के सदृश।
भूरि - भव्य - भावों का अनुपम - ओक है ॥
वर - विवेक से सुरगुरु जिसमें हैं लसे।
दम्पति - प्रेम परम - पुनीत सुरलोक है ॥६३॥

मृदुल - उपादानों से बनिता है रचित।
हैं उसके सब अंग बड़े - कोमल बने ॥
इसीलिये है कोमल उसका हृदय भी।
उसके कोमल - वचन सुधा में हैं सने ॥६४॥

पुरुष अकोमल - उपादान से है बना।
इसीलिये है उसे मिली दृढ़ - चित्तता ॥
बड़े - पुष्ट होते हैं उसके अंग भी।
उसमें बल की भी होती है अधिकता ॥६५॥

जैसी ही जननी की कोमल-हृदयता।
है अभिलषिता है जन-जीवनदायिनी॥
वैसी ही पाता की बलवत्ता तथा।
दृढ़ता है वांछित, है विभव-विधायिनी॥९६॥

है दाम्पत्य-विधान इसी विधि में बँधा।
दोनों का सहयोग परस्पर है ग्रथित॥
जो पौरुष का भाजन है कोई पुरुष।
तो कुल-बाला मूर्त्ति-शान्ति की है कथित॥९७॥

अपर-अंग करता है पीड़ित-अंग-हित।
जो यह मति रह सकी नहीं चिर-संगिनी॥
कहाँ पुरुष में तो पौरुष पाया गया।
कहाँ बन सकी बनिता तो अर्द्धांगिनी॥९८॥

किसी समय अवलोक पुरुष की परुषता।
कोमलता से काम न जो लेवे प्रिया॥
कहाँ बनी तो स्वाभाविकता-सहचरी।
काम मृदुल-उर ने न मृदुलता से लिया॥९९॥

रस-विहीन जिसको कहकर रसना बने।
ऐसी नीरस बातें क्यों जायें कही॥
कान्त के लिये यदि वे कड़वे बन गये।
कान्त-वचन में तो कान्तता कहाँ रही॥१००॥

जिस पर सरस वरस जाने ही के लिये।
कोमल से भी कोमल कलित-कुसुम बने॥
उसको किसी विशिख से बन वे क्यों लगें।
रहे वचन जो सदा सुधारस में सने॥१०१॥

अकमनीय कैसे कमनीय प्रवृत्ति हो।
बड़ी चूक है उसे नहीं जो रोकती॥
कोई कोमल-हृदया प्रियतम को कभी।
कड़ी आँख से कैसे है अवलोकती॥१०२॥

जो न कंठ हो सकी पुनीत-गुणावली
क्यों पाती न प्रवृत्ति कलहप्रियता पता॥
जो कटूक्ति के लिये हुई उत्कण्ठ तो।
क्यों कलंकिता बनेगी न कल-कंठता॥१०३॥

पहचाने पति के पद को मुँह से कभी।
निकल नहीं पाती अपुनीत-पदावली॥
सहज-मधुरता मानस के त्यागे बिना।
अमधुर बनती नहीं मधुर-वचनावली॥१०४॥

है 'कठोरता, काठ शिला से भी कठिन।
क्यों न प्रेम-धारायें ही उनमें बहें॥
कोमल हैं तो बनें अकोमल किसलिये।
क्यों न कलेजे बने कलेजे ही रहें॥१०५॥

जिसमें है न सहानुभूति-मर्म्मज्ञता।
सदा नहीं होता जो यथा-समय-सदय॥
जिसमें है न हृदय-धन की ममता भरी।
हृदय कहायेगा तो कैसे वह हृदय॥१०६॥

क्या गरिमा है रूप, रंग, गुण आदि की।
क्या इस भूति-भरित-भूमध्य निजस्व है॥
जो उत्सर्ग न उस पर जीवन हो सका।
जो इस जगती में जीवन-सर्वस्व है॥१०७॥

अवनी में जो जीवन का अवलम्ब है।
सब से अधिक उसी पर जिसका प्यार है॥
वह पतिता है जो उससे है उलझती।
जिस पति का तन, मन, धन पर अधिकार है॥१०८॥

चूक उसीकी है जो वल्लभता दिखा।
हृदय-वल्लभा का पद पा जाती नहीं॥
प्राणनाथ तो प्राणनाथ कैसे बनें।
पति प्राणा यदि पत्नी बन पाती नहीं॥१०९॥

पढ़ तदीयता-पाठ भेद को भूल कर।
सत्य-भाव से पूत-प्रेम-प्याला पिये॥
बन जाती हैं जीवितेश्वरी पत्नियाँ।
जीवनधन को जीवनधन अर्पित किये॥११०॥

भाग्यवती वह है भर सात्विक-भूति से।
भक्ति-बीज जो प्रीति-भूमि में बो सकी॥
वह सहृदयता है सहृदयता ही नहीं।
जो न समर्पित हृदयेश्वर को हो सकी॥१११॥

पूजन कर सद्भाव-समूह-प्रसून से।
जगा आरती सत्कृति की बन सद्व्रता॥
दिव्य भावना बल से पाकर दिव्यता।
देवी का पद पाती है पति-देवता॥११२॥

वहन कर सरस-सौरभ संयत-भाव का।
जो सरोजिनी सी हो भव-सर में खिली॥
वही सती है शुचि-प्रतीति से पूरिता।
जिसे पति-परायणता पूरी हो मिली॥११३॥

उसका अधिकारी है सबसे अधिक पति।
सोच यह स्वकृति की करती जो पूर्त्ति हो॥
पतिव्रता का पद पा सकती है वही।
जीवितेश हित की जो जीवित मूर्त्ति हो॥११४॥

सहज - सरलता, शुचिता, मृदुता सदयता -
आदि दिव्य गुण द्वारा जो हो ऊर्जिता॥
प्रीति सहित जो पति - पद को है पूजती।
भव में होती है वह पत्नी पूजिता॥११५॥

लंका में मेरा जिन दिनों निवास था।
वहाँ विलोकी जो दाम्पत्य - विडम्बना॥
उसका ही परिणाम राज्य - विध्वंस था।
भयंकरी है संयम की अवमानना॥११६॥

होता है यह उचित कि जब दम्पति खिजें।
सूत्रपात जब अनबन का होने लगे॥
उसी समय हो सावधान संयत बनें।
कलह - बीज जब बिगड़ा मन बोने लगे॥११७॥

यदि चंचलता पत्नी दिखलाये अधिक।
पति तो कभी नहीं त्यागे गंभीरता॥
उग्र हुए पति के पत्नी कोमल बने।
हो अधीर कोई भी तजे न धीरता॥११८॥

तपे हुए की शीतलता है औषधी।
सहनशीलता कुल कलहों की है दवा॥
शान्त - चित्तता का अवलम्बन मिल गये।
प्रकृति - भिन्नता भी हो जाती है हवा॥११९॥

कोई प्राणी दोष-रहित होता नहीं।
कितनी दुर्बलतायें उसमें हैं भरी॥
किन्तु सुधारे सब बातें हैं सुधरती।
भलाइयों ने सब बुराइयाँ हैं हरी॥१२०॥

सभी उलझनें सुलझाये हैं सुलझती।
गाँठ डालने पर पड़ जाती गाँठ है॥
रस के रखने से ही रस रह सका है।
हरा भरा, कब होता उकठा-काठ है॥१२१॥

मर्यादा, कुल-शील, लोक-लज्जा तथा।
क्षमा, दया, सभ्यता, शिष्टता, सरलता॥
कटु को मधुर सरसतम असरस को बना।
हैं कठोर उर में भर देती तरलता॥१२२॥

मधुर-भाव से कोमल-तम-व्यवहार से।
पशु-पक्षी भी हो जाते आधीन हैं॥
अनहित हित बनते स्वकीय परकीय हैं।
क्यों न मिलेंगे दम्पति जो जलमीन हैं॥१२३॥

क्यों न दूर हो जायेगी मन मलिनता।
क्यों न निकल जायेगी कुल जी की कसर॥
क्यों न गाँठ खुल जायेगी जी में पड़ी।
पड़े अगर दम्पति का दम्पति पर असर॥१२४॥

जिन दोनों का सबसे प्रिय-सम्बन्ध है।
जो दोनों हैं एक दूसरे से मिले॥
एक वृन्त के दो अति सुन्दर-सुमन-सम।
एक रंग में रँग जो दोनों हैं खिले॥१२५॥

ऐसा प्रिय - सम्बन्ध अल्प - अन्तर हुए।
भ्रम - प्रमाद में पड़े टूट पाता नहीं ॥
स्नेहकरों से जो बंधन है बँधा, वह -
खींच - तान कुछ हुए छूट जाता नहीं ॥१२६॥

किन्तु रोग इन्द्रिय - लोलुपता का बढ़े।
पड़े आत्मसुख के प्रपंच में अधिकतर ॥
होती है पशुता - प्रवृत्ति की प्रबलता।
जाती है उर में भौतिकता - भूति भर ॥१२७॥

लंका में भौतिकता का साम्राज्य था।
था विवाह का बंधन, किन्तु अप्रीतिकर ॥
नित्य वहाँ होता स्वछंद - विहार था।
था विलासिता नग्न - नृत्य ही रुचिर तर ॥१२८॥

कलह कपट - व्यवहार कु - कौशल करों से।
बहु - सदनों के सुख जाते थे छिन वहाँ ॥
होता रहता था साधारण बात से।
पति - पत्नी का परित्याग प्रति - दिन वहाँ ॥१२९॥

अहंभाव दुर्भाव तथा दुर्वासना।
उसे तोड़ देती थी पतित - प्रवंचना ॥
ऐंचा तानी हुई कि वह टूटा नहीं।
कच्चा धागा था विवाह - बंधन बना ॥१३०॥

उस अभागिनी की अशान्ति को क्या कहें।
जिसे शान्ति पति - परिवर्त्तन ने भी न दी ॥
होती है वह विविध - यंत्रणाओं भरी।
इसीलिये सदन है वैतरणी सही ॥१३१॥

नरक ओर जाती थीं पर वे सोचतीं।
उन्हें लग गया स्वर्ग - लोक का है पता॥
दुराचार ही सदाचार था बन गया।
स्वतंत्रता थी मिली तजे परतंत्रता॥१३२॥

था बनाव - शृंगार उन्हें भाता बहुत।
तन को सज उनका मन था रौरव बना॥
उच्छृंखलता की थीं वे अति - प्रेमिका।
उसी में चरम - सुख की थी प्रिय - कल्पना॥१३३॥

इष्ट - प्राप्ति थी स्वार्थ - सिद्धि उनके लिये।
थी कदर्थना से पूरिता - परार्थता॥
पुण्य - कार्य्यों में थी बड़ी - विडम्बना।
पाप - कमाना थी जीवन - चरितार्थता॥१३४॥

बहु - वेशों में परिणत करती थी उन्हें।
पुरुषों को वश में करने की कामना॥
पापीयसी - प्रवृत्ति - पूर्त्ति के लिये वे।
करती थीं विकराल - काल का सामना॥१३५॥

थोड़ी भी परवाह कलंकों की न कर।
लगा कालिमा के मुँह में भी कालिमा॥
लालन कर लालसामयी - कुप्रवृत्ति का।
वे रखती थीं अपने मुख की लालिमा॥१३६॥

इन्द्रिय - लोलुपता थी रग रग में भरी।
था विलास का भाव हृदय - तल में जमा॥
रोमांचितकर उनकी पाप - प्रवृत्ति थी।
मनमानापन रोम रोम में था रमा॥१३७॥

पुरुष भी इन्हीं रंगों में ही थे रँगे।
पर कठोरता की थी उनमें अधिकता ॥
जो प्रवंचना में प्रवीण थीं रमणियाँ।
तो उनकी विधि-हीन - नीति थी बधिकता ॥१३८॥

नहीं पाशविकता का ही आधिक्य था।
हिंसा, प्रति - हिंसा भी थी प्रबला बनी ॥
प्रायः पापाचार - बाधकों के लिये।
पापाचारी की उठती थी तर्जनी ॥१३६॥

बने कलंकी कुल तो उनकी बला से।
लोक - लाज की परवा भी उनको न थी ॥
जैसा राजा था वैसी ही प्रजा थी।
ईश्वर की भी भीति कभी उनको न थी ॥१४०॥

इन्हीं पापमय कर्मों के अतिरेक से।
ध्वंस हुई कञ्चन - विरचित - लंकापुरी ॥
जिससे कम्पित होते सदा सुरेश थे।
धूल में मिली प्रबल - शक्ति वह आसुरी ॥१४१॥

प्राणी के अयथा - आहार - विहार से।
उसकी प्रकृति कुपित होकर जैसे उसे -
देती है बहु - दण्ड रुजादिक - रूप में।
वैसे ही सब कहते हैं जनपद जिसे ॥१४२॥

वह चलकर प्रतिकूल नियति के नियम के।
भव - व्यापिनी प्रकृति के प्रबल - प्रकोप से ॥
कभी नहीं बचता होता विध्वंस है।
वैसे ही जैसे तम दिनकर ओप से ॥१४३॥

लंका की दुर्गति दाम्पत्य - विडम्बना।
मुझे आज भी करती रहती है व्यथित ॥
हुए याद उसकी होता रोमांच है।
पर वह है प्राकृतिक - गूढ़ता से ग्रथित ॥१४४॥

है अभिनन्दित नहीं सात्विकी - प्रकृति से।
है पति - पत्नी त्याग परम-निन्दित - क्रिया ॥
मिले दो हृदय कैसे होवेंगे अलग।
अप्रिय - कर्म्म करेंगे कैसे प्रिय - प्रिया ॥१४५॥

वास्तवता यह है, जब पतित - प्रवृत्तियाँ।
कुत्सित - लिप्सा दुर्व्यसनों से हो प्रबल ॥
इन्द्रिय - लोलुपताओं के सहयोग से।
देती हैं सब - सात्विक भावों को कुचल ॥१४६॥

तभी समिष होता विरोध आरंभ है।
जो दम्पति हृदयों में करता छेद है ॥
जिससे जीवन हो जाता है विषमतम।
होता रहता पति - पत्नी विच्छेद है ॥१४७॥

जिसमें होती है उच्छृंखलता भरी।
जो पामरता कटुता का आधार हो ॥
जिसमें हो हिंसा प्रति - हिंसा अधमता।
जिसमें प्यार बना रहता व्यापार हो ॥१४८॥

क्या वह जीवन क्या उसका आनन्द है।
क्या उसका सुख क्या उसका आमोद है ॥
किन्तु प्रकृति भी तो है वैचित्र्यों भरी।
मल - कीटक मल ही में पाता मोद है ॥१४९॥

यह भौतिकता की है बड़ी विडम्बना।
इससे होता प्राणि-पुंज का है पतन॥
लंका से जनपद होते विध्वंस हैं।
मरु बन जाता है नन्दन सा दिव्य-वन॥१५०॥

उदारता से भरी सदाशयता-रता।
सद्भावों से भौतिकता की बाधिका॥
पुण्यमयी पावनता भरिता सद्व्रता।
आध्यात्मिकता ही है भव-हित-साधिका॥१५१॥

यदि भौतिकता है अति-स्वार्थ-परायणा।
आध्यात्मिकता आत्मत्याग की मूर्त्ति है॥
यदि भौतिकता है विलासिता से भरी।
आध्यात्मिकता सदाचारिता पूर्त्ति है॥१५२॥

यदि उसमें है पर-दुख-कातरता नहीं।
तो इसमें है करुणा सरस प्रवाहिता॥
यदि उसमें है तामस-वृत्ति अमा-समा।
तो इसकी है सत्प्रवृत्ति-राकासिता॥१५३॥

यदि भौतिकता दानवीय-संपत्ति है।
तो आध्यात्मिकता दैविक-सुविभूति है॥
यदि उसमें है नारकीय-कटु-कल्पना।
तो इसमें स्वर्गीय-सरस-अनुभूति है॥१५४॥

यदि उसमें है लेश भी नहीं शील का।
तो इसका जन-सहानुभूति निजस्व है॥
यदि उसमें है भरी हुई उद्दंडता।
सहनशीलता तो इसका सर्वस्व है॥१५५॥

यदि वह है कृत्रिमता कल छल से भरी।
तो यह है सात्विकता - शुचिता - पूरिता ॥
यदि उसमें दुर्गुण का ही अतिरेक है।
तो इसमें है दिव्य - गुणों की भूरिता ॥१५६॥

यदि उसमें पशुता की प्रबल - प्रवृत्ति है।
तो इसमें मानवता की अभिव्यक्ति है॥
भौतिकता में यदि है जड़तावादिता।
आध्यात्मिकता मध्य चिन्मयी - शक्ति है॥१५७॥

भौतिकता है भव के भावों में भरी।
और प्रपंची पंचभूत भी हैं न कम॥
कहाँ किसी का कब छूटा इनसे गला।
किन्तु श्रेय - पथ अवलम्बन है श्रेष्ठतम॥१५८॥

नर - नारी निर्दोष हो सकेंगे नहीं।
भौतिकता उनमें भरती ही रहेगी॥
आपके सदृश मैं भी इससे व्यथित हूँ।
किन्तु यही मानवता - ममता कहेगी॥१५९॥

आध्यात्मिकता का प्रचार कर्तव्य है।
जिससे यथा - समय भव का हित हो सके॥
आप इसी पथ की पथिका हैं, विनय है।
पाँव आप का कभी न इस पथ में थके॥१६०॥

दोहा

विदा महि - सुता से हुई उन्हें मान महनीय।
सुन विज्ञानवती सरुचि कथन - परम - कमनीय॥१६१॥

पंचदश सर्ग

—❀—

सुतवती सविता

—*—

तिलोकी

परम - सरसता से प्रवाहिता सुरसरी ।
कल कल रव से कलित - कीर्त्ति थीं गा रही ॥
किसी अलौकिक - कीर्त्तिमान - लोकेश की ।
लहरें उठ थीं ललित - नृत्य दिखला रही ॥१॥

अरुण - अरुणिमा उषा - रंगिणी - लालिमा ।
गगनांगण में खेल लोप हो चली थीं ॥
रवि - किरणें अब थीं निज-कला दिखा रही ।
जो प्राची के प्रिय - पलने में पली थीं ॥२॥

सरल - बालिकायें सी कलिकायें - सकल ।
खोल खोल मुँह कोल दिखा खिल रही थीं ॥
सरस - वायु - संचार हुए सब बेलियाँ ।
विलस विलस बल खा खा कर हिल रही थीं ॥३॥

समय कुसुम - कोमल प्रभात-शिशु को विहँस ।
दिवस दिव्यतम - गोदी में था दे रहा ॥
भोलेपन पर बन विमुग्ध उत्फुल्ल हो ।
वह उसको था ललक ललक कर ले रहा ॥४॥

कहीं कान्ति - संकलित कहीं कल - केलिमय ।
और कहीं सरिता - प्रवाह उच्छ्वसित था ॥
खग कलरव आकलित कान्त - तरु पुंज से ।
उसका सज्जित - कूल उल्लसित लसित था ॥५॥

इसी कूल पर सीता सुअनों के सहित।
धीरे धीरे पद-चालन कर रही थीं॥
उनके मन की बातें मृदुता साथ कह।
अन्तस्तल में वर-विनोद भर रही थीं॥६॥

सात बरस के दोनों सुत थे हो गये।
इसीलिये जिज्ञासा थी प्रबला हुई॥
माता से थे नाना-बातें पूछते।
यथावसर वे प्रश्न किया करते कई॥७॥

सरिता में थीं तरल-तरंगें उठ रहीं।
बार वार अवलोक उन्हें कुश ने कहा॥
ए क्या हैं? ए किससे क्यों हैं खेलती।
मा इनमें है कैसे दीपक बल रहा॥८॥

सुने उक्तियाँ उनकी सत्यवती हँसी।
किन्तु प्यार से मा ने ये बातें कहीं॥
ए हैं दुहितायें सरिता सुन्दरी की।
गोद में उसी की हैं क्रीड़ा कर रही॥९॥

जननी हैं सुरसरी, समीरण है जनक।
हुआ है इन्हीं दोनों से इनका सृजन॥
ए हैं परम-चंचला-सरसा-कोमला।
रवि-कर से है विलसित इनका तरल-तन॥१०॥

जैसे सम्मुख के सारे-बालुका-कण।
चमक रहे हैं मिले दिवस-मणि की चमक॥
वैसे ही दिनकर की कान्ति-विभूति से।
दिव्य बने लहरें भी पाती हैं दमक॥११॥

तात तुमारे पिता का मनोरम - मुकुट ।
रवि - कर से जैसा बनता है दिव्यतम ॥
वह अमूल्य - मणि - मंजुलता - सर्वस्व है ।
दृग - निमित्त है लोकोत्तर - आलोक सम ॥१२॥

यह सुन लव ने माता का अञ्चल पकड़ ।
कहा ठुनुक कर अम्मा हम लेंगे मुकुट ॥
सीता ने सुत चिवुक थामकर यह कहा ।
तात ! तुमारे पिता तुम्हें देंगे मुकुट ॥१३॥

कुश बोले क्या हम न पा सकेंगे मुकुट ।
सीता बोलीं तुम तो लव से हो बड़े ॥
अतः मुकुट तुमको पहले ही मिलेगा ।
दोनों में होंगे अनुपम - हीरे जड़े ॥१४॥

दोनों भ्राता शस्त्र - शास्त्र में निपुण हो ।
अवध धाम में पहुँचोगे सानन्द जब ॥
पाकर रविकुल - रवि से दिव सी दिव्यता ।
रत्न - मुकुट - मंडित होगे तुम लोग तब ॥१५॥

इसी समय कतिपय - चमकीली - मछलियाँ ।
पुलिन - सलिल में तिरती दिखलाई पड़ी ॥
उन्हें देखने लगे लव किलक - किलक कर ।
कुश की चञ्चल - आँखें भी उन पर अड़ीं ॥१६॥

उभय उन्हें देखते रहे कुछ काल तक ।
फिर लव ने ललकित हो मा से यह कहा ॥
मैं लूँगा मछलियाँ क्या उन्हें पकड़ लूँ ।
मा बोलीं सुत यह अनुचित होगा महा ॥१७॥

जैसे तुम दोनों हो मेरे लाड़िले।
तुम्हें साथ ले जैसे मैं हूँ घूमती ॥
गले लगाती हूँ तुमसे खेलती हूँ।
जैसे मैं हूँ तुम्हें प्यार से चूमती ॥१८॥

वैसे ही हो केलि-निरत मछलियाँ भी।
हैं बच्चों के सहित सलिल में विलसती ॥
देखो तो कैसा हिल मिल हैं खेलती।
मिला मिला कर मुँह कैसी हैं सरसती ॥१९॥

यदि कोई तुमको मुझसे तुमसे मुझे।
छीने तो बतला दो क्या होगी दशा ॥
कोमल से कोमल बहु-व्याकुल-हृदय को।
क्या न लगेगी विषम-वेदना की कशा ॥२०॥

लव बोले आयेगा मुझको छीनने –
"जो, मैं मारूँगा उसको दूँगा डरा ॥
कहा जनकजा ने क्यों ऐसा करोगे।
इसीलिये न कि अनुचित करना है बुरा ॥२१॥

फिर तुम क्यों अनुचित करना चाहते हो।
कभी किसी को नही सताना चाहिये ॥
उनके बच्चे हों अथवा हों मछलियाँ।
कभी नहीं उनको कलपाना चाहिये ॥२२॥

देखो वे हैं कितनी सुथरी सुन्दरी।
कैसा पुलकित हो हो वे हैं फिर रहीं ॥
वहाँ गये उनका सुख होगा किरकिरा।
किन्तु पकड़ पाओगे उनको तुम नहीं ॥२३॥

जीव जन्तु जितने जगती में हैं बने।
सबका भला किया करना ही है भला॥
निरपराध को सता करें अपराध क्यों।
वृथा किसी पर क्यों कोई लाये बला॥२४॥

जल को विमल बनाती हैं ये मछलियाँ।
पूत-प्रेम का पाठ पढ़ाती हैं सदा॥
प्रियतम जल से बिछुड़े वे जीती नहीं।
किसी प्रेमिका पर क्यों आये आपदा॥२५॥

इतना कहते जनक-नन्दिनी नयन में।
जल भर आया और कलेजा हिल गया॥
मानों व्याकुल बनी युगल-मछलियों को।
यथावसर अनुकूल-सलिल था मिल गया॥२६॥

जल में जल से गुरु पदार्थ हैं डूबते।
मा तुमने मुझसे हैं ए बातें कहीं॥
काठ कहा जाता है गुरुतर वारि से।
क्यों नौका जल में निमग्न होती नहीं॥२७॥

सुने प्रश्न कुश का माता ने यह कहा।
बड़े बड़ाई को हैं कभी न भूलते॥
जल तरुओं को सींच सींच है पालता।
उसके बल से वे हैं फलते-फूलते॥२८॥

जब वे होते तप्त बनाता तर उन्हे।
जब होते निर्बल तब कर देता सबल॥
उसी की सरसता का अवलम्बन मिले।
अनुपम रस पाते थे उनके सकल-फल॥२९॥

वह जल देता क्यों उस नौका को डुबा।
जो तरु के तन द्वारा है निर्मित हुई॥
सदा एक रस रहती है उत्तम - प्रकृति।
तन - हित करती है तनबिन कर भी रुई॥३०॥

है मुँह देखी प्रीति, प्रीति सच्ची नहीं।
वह होती है असम, स्वार्थ - साधन - रता॥
जीते जगती रह, है मरे न भूलती।
पूत सलिल सी पूत - चित्त की पूतता॥३१॥

जितने तरु प्रतिविम्बित थे सरि - सलिल में।
उन्हें कुछ समय तक लव रहे विलोकते॥
फिर माता से पूछा क्या ए कूल द्रुम।
जल में अपना आनन हैं अवलोकते॥३२॥

मा बोलीं वे क्यों जल में मुँह देखते।
जो हैं ज्ञान - रहित जो जड़ता - धाम हैं॥
है छाया ग्राहिणी - शक्ति विमलाम्बु में।
तरु प्रतिविम्बितकरण उसी का काम है॥३३॥

सत्य बात सुत! मैंने बतला दी तुम्हें।
किन्तु क्रियायें तरु की हैं शिक्षा भरी॥
तुम लोगों को यही चाहिये सीख लो।
मिले जहाँ पर कोई शिक्षा हितकरी॥३४॥

सरिता सेचन कर तरुओं को सलिल से।
हरा - भरा रखकर उनको है पालती॥
अवसर पर तर रख, कर शीतल तपन में।
जीवन से उनमें है जीवन डालती॥३५॥

यथासमय तो उसको छाया-दान कर।
तरुवर भी उस पर बरसाते फूल हैं॥
उसके सुअनों को देते हैं सरस-फल।
सज्जित उनसे रहते उसके कूल हैं॥३६॥

उपकारक के उपकारों को याद रख।
करते रहना अवसर पर प्रतिकार भी॥
है अति-उत्तम-कर्म्म, धर्म्म है लोक का।
हो कृतज्ञ, न बने अकृतज्ञ मनुज कभी॥३७॥

यों भी तरु हैं लोक-हित निरत दीखते।
आतप में रह करते छाया-दान हैं॥
उनके जैसा फलद दूसरा कौन है।
सुर-शिर पर किनके फूलों का स्थान है॥३८॥

हैं उनके पंचांग काम देते बहुत।
छवि दिखला वे किसे मुग्ध करते नहीं॥
लेते सिर पर भार नहीं जो वे उभर।
तो भूतल के विपुल उदर भरते नहीं॥३९॥

है रसालता किसको मिली रसाल सी।
कौन गुलाब-प्रसूनों जैसा कब खिला॥
सबके हित के लिये झकोरे सहन कर।
कौन सब दिनों खड़ा एक पद से मिला॥४०॥

तरु वर्षा-शीतातप को सहकर स्वयं।
शरणागत को करते आश्रय दान हैं॥
प्रातः कलरव से होता यह ज्ञात है।
खगकुल करते उनका गौरव-गान हैं॥४१॥

पाधा है उपहार 'प्रहारक, फलों का -
किससे, किसका मर्म्मस्पर्शी मौन है ॥
द्रुम समान अवलम्बन विहग - समूह का ।
कर्त्तनकारी का हित - कर्त्ता कौन है ॥४२॥

तरु जड़ हैं इन सारे कामों को कभी ।
जान बूझ कर वे कर सकते हैं नहीं ॥
पर क्या इनमें छिपे निगूढ़ - रहस्य हैं ।
कैसे जा सकती हैं ए बातें कही ॥४३॥

कला - कान्त कितनी लीलायें प्रकृति की ।
हैं ललामतम किन्तु हैं जटिलतामयी ॥
कब उससे मति चकिता होती है नहीं ।
कभी नहीं अनुभूति हुई उनपर जयी ॥४४॥

कहाँ किस समय क्या होता है किसलिये ।
कौन इन रहस्यों का मर्म्म बता सका ॥
भव - गुत्थी को खोल सका कब युक्ति-नख ।
चल इस पथ पर कब न विचार-पथिक थका ॥४५॥

प्रकृति - भेद वह ताला है जिसकी कहीं ।
अब तक कुंजी नहीं किसी को भी मिली ॥
वह वह कीली है विभुता - भू में गड़ी ।
जो न हिलाये ज्ञान - शक्ति के भी हिली ॥४६॥

जो हो, पर पुत्रो भव - दृश्यों को सदा ।
अवलोकन तुम लोग करो वर - दृष्टि से ॥
और करो सेचन वसुधा - हित - विटप का ।
अपनी - सत्कृति की अति - सरसा - वृष्टि से ॥४७॥

जो सुर-सरिता हैं नेत्रों के सामने।
जिनकी तुंग-तरंगें हैं ज्योतिर्मयी ॥
कीर्त्ति-पताका वे हैं रविकुल-कलस की।
हुई लोकहित-ललकों पर वे हैं जयी ॥४८॥

तुम लोगों के पूर्व-पुरुष थे, बहु-विदित-
भूप भगीरथ सत्य-पराक्रम धर्म्म-रत ॥
उन्हीं के तपोबल से वह शुचि-जल मिला।
जिसके सम्मुख हुई चित्त-शुचिता-विनत ॥४६॥

उच्च-हिमाचल के अञ्चल की कठिनता।
अल्प भी नहीं उन्हें बना चंचल सकी ॥
दुर्गमता गिरि से निधि तक के पंथ की।
सोचे उनकी अथक-प्रवृत्ति नहीं थकी ॥५०॥

उनका शिव-संकल्प सिद्धि-साधन बना।
उनके प्रबल-प्रयत्नों से बाधा टली ॥
पथ के प्रस्तर सुविधा के बिस्तर बने।
सलिल-प्रगति के ढंगों में पटुता ढली ॥५१॥

कुलहित की कामना लोक-हित लगन से।
जब उर सर में भक्तिभाव-सरसिज खिला ॥
शिव-सिर-लसिता-सरिता हस्तगता हुई।
ब्रह्म-कमण्डल-जल महि-मण्डल को मिला ॥५२॥

सुर-सरिता को पाकर भारत की धरा।
धन्य हो गई और स्वर्ण-प्रसवा बनी ॥
हुई शस्य-श्यामला सुधा से सिञ्चिता।
उसे मिले धर्मज्ञ धनद जैसे धनी ॥५३॥

वह काशी जो है प्रकाश से पूरिता।
जहाँ भारती की होती है आरती॥
जो सुर-सरिता पूत-सलिल पाती नहीं।
पतित-प्राणियों को तो कैसे तारती॥५४॥

सुन्दर-सुन्दर-भूति भरे नाना-नगर।
किसके अंति-कमनीय-कूल पर हैं लसे॥
तीर्थराज को तीर्थराजता मिल गई।
किस तटिनी के पावनतम-तट पर बसे॥५५॥

हृदय-शुद्धता की है परम-सहायिका।
सुर-सरिता स्वच्छता-सरसता मूल है॥
उसका जीवन, जीवन है बहु जीव का।
उसका कूल तपादिक के अनुकूल है॥५६॥

साधक की साधना सिद्धि-उन्मुख हुई।
खुले ज्ञान के नयन अज्ञता से ढके॥
किसके जल-सेवन से संयम सहित रह।
योग योग्यता बहु-योगी-जन पा सके॥५७॥

जनक-प्रकृति-प्रतिकूल तरलता-ग्रहण कर।
भीति-रहित हो तप-ऋतु के आतंक से॥
हरती है तपती धरती के ताप को।
किसकी धारा निकल धराधर-अङ्क से॥५८॥

किससे सिँचते लाखों बीघे खेत हैं।
कौन करोड़ों मन उपजाती अन्न है॥
कौन हरित रखती है अगणित-द्रुमों को।

सदा सरस रह करती कौन प्रसन्न है॥५९॥

कौन दूर करती प्यासों की प्यास है।
कौन खिलाती बहु-भूखों को अन्न है॥
कौन वसन-हीनों को देती वसन है।
निर्धन-जन को करती धन-सम्पन्न है॥६०॥

है उपकार-परायणा सुकृति-पूरिता।
इसीलिये है ब्रह्म-कमण्डल-वासिनी॥
है कल्याण-स्वरूपा भव-हित-कारिणी।
इसीलिये वह है शिव-शीश-विलासिनी॥६१॥

है सित-वसना सरसा परमा-सुन्दरी।
देवी बनती है उससे मिल मानवी॥
उसे बनाती है रवि-कान्ति सुहासिनी।
है जीवन-दायिनी लोक की जाह्नवी॥६२॥

अवगाहन कर उसके निर्मल-सलिल में।
मल-विहीन बन जाते हैं यदि मलिन-मति॥
तो विचित्र क्या है जो निपतन पथ रुके।
सुर-सरिता से पा जाते हैं पतित गति॥६३॥

महज्जनों के पद-जल में है पूतता।
होती है उसमें जन-हित गरिमा भरी॥
अतिशयता है उसमें ऐसी भूति की।
इसीलिये है हरिपादोदक सुरसरी॥६४॥

गौरी गंगा दोनों हैं गिरि-नन्दिनी।
रमा समा गंगा भी हैं वैभव-भरी॥
गिरा समाना वे भी गौरव-मूर्त्ति हैं।
विबुध न कहते कैसे उनको सुरसरी॥६५॥

पुत्रो रवि का वंश समुज्वल - वंश है।
तुम लोगों के पूर्व - पुरुष महनीय हैं॥
सुर - सरिता - प्रवाह उद्भावन के सदृश।
उनके कितने कृत्य ही अतुलनीय हैं॥६६॥

तुम लोगों के पितृदेव भी वंश के।
दिव्य पुरुष हैं, है महत्व उनमें भरा॥
मानवता की मर्यादा की मूर्त्ति हैं।
उन्हें लाभ कर धन्य हो गई है धरा॥६७॥

सुन वनवास चतुर्दश - वत्सर का हुए -
अल्प भी न उद्विग्न न म्लान बदन बना॥
तृण समान साम्राज्य को तजा सुखित हो।
हुए कहाँ ऐसे महनीय - महा - मना॥६८॥

धर्म्म धुरंधरता है ध्रुव जैसी अटल।
सदाचार सत्यव्रत के वे सेतु हैं॥
लोकोत्तर है उनकी लोकाराधना।
उड़ते उनके कलित - कीर्त्ति के केतु हैं॥६९॥

राजभवन था सज्जित सुरपुर - सदन सा।
कनक - रचित बहु - मणि - मण्डित - पर्यंक था॥
रही सेविका सुरबाला सी सुन्दरी।
गृह - नभ का सुख राका - निशा - मयंक था॥७०॥

इनको तजकर रहना पड़ा कुटीर में।
निर्जन - वन में सोना पड़ा तृणादि पर॥
फिर भी विकच बना रहता मुख - कंज था।
किसका चित्त दिखाया इतना उच्चतर॥७१॥

होता है उत्ताल - तरंगाकुल - जलधि।
है अबाध्यता भी उसकी अविदित नहीं॥
किन्तु बनाया सेतु उन्होंने उसी पर।
किसी काल में हुआ नहीं ऐसा कहीं॥७२॥

तुम लोगों के पिता लोक - सर्वस्व हैं।
दिव्य - भूतियों के अद्भुत - आगार हैं॥
हैं रविकुल के रवि - सम वे हैं दिव्यतम।
वे वसुधातल के अनुपम - शृंगार हैं॥७३॥

उनके पद का करो अनुसरण पूत हो।
सच्चे - आत्मज बनो भुवन का भय हरो॥
रत्नाकर के बनो रत्न तुम लोग भी।
भले - भले भावों को अनुभव में भरो॥७४॥

प्रकृति - पाठ को पठन करो शुचि - चित्त से।
पत्ते - पत्ते में है प्रिय - शिक्षा भरी॥
सोचो समझो मनन करो खोलो नयन।
जीवन - जल में ठीक चलेगी कृति - तरी॥७५॥

दोहा

देख धूप होते समझ मृदुल - बाल को फूल।
चली गई सीता ससुत तज सुर - सरिता कूल॥७६॥

षोड़श सर्ग

—++—

शुभ सम्वाद

—*—

तिलोकी

दिनकर किरणें अब न आग थीं बरसती ।
अब न तप्त-तावा थी बनी वसुन्धरा ॥
धूप जलाती थी न ज्वाल-माला-सदृश ।
वातावरण न था लू-लपटों से भरा ॥ १ ॥

प्रखर-कर-निकर को समेट कर शान्त बन ।
दग्ध-दिशाओं के दुख को था हर रहा ॥
धीरे-धीरे अस्ताचल पर पहुँच रवि ।
था वसुधा-अनुराग-राग से भर रहा ॥ २ ॥

वह छाया जो विटपावलि में थी छिपी ।
बाहर आकर बहु-व्यापक थी बन रही ॥
उसको सब थे तन-बिन जाते देखते ।
तपन तपिश जिस ताना को थी तन रही ॥ ३ ॥

जिसको छू कर तन होता संतप्त था ।
वह समीर अब सुख-स्पर्श था हो रहा ॥
शीतल होकर सर-सरिताओं का सलिल ।
था उत्ताप तरलतम-तन का खो रहा ॥ ४ ॥

आतप के उत्कट पंजे से छूटकर।
सुख की साँस सकल-तरुवर थे ले रहे॥
कुम्हलाये-पल्लव अब पुलकित हो उन्हें।
हरे-भरे पादप का पद थे दे रहे॥५॥

जलती-भुनती-लतिका को जीवन मिला।
अविकच-वदना पुनः विकच-वदना बनी॥
काँप रही थी जो थोड़ी भी लू लगे।
अब देखी जाती थी वही बनी-ठनी॥६॥

सघन-वनों में बहु-विटपावृत-कुंज में।
जितने प्राणी आतप-भय से थे पड़े॥
तरणि-किरण का पावक-वर्षण देखकर।
सहम रोंगटे जिनके होते थे खड़े॥७॥

अब उनका क्रीड़ा-स्थल था शाद्वल बना।
उनमें से कुछ जहाँ तहाँ थे कूदते॥
थे नितान्त-नीरव जो खोंते अब उन्हें।
कलरव से परिपूरित थे अवलोकते॥८॥

नभ के लाल हुए बदली गति काल की।
दिन के छिपे निशा मुख दिखलाई पड़ा॥
उधर हुआ रविविम्ब तिरोहित तो इधर।
था सामने मनोहर-परिवर्त्तन खड़ा॥९॥

आई संध्या साथ लिये विधु-विम्ब को।
धीरे-धीरे क्षिति पर छिटकी चाँदनी॥
इसी समय देवालय में पुत्रों सहित।
विलसित थीं पति-मूर्त्ति पास मोहनन्दिनी॥१०॥

कुलपति - निर्मित रामायण को प्रति - दिवस ।
लव कुश आकर गाते थे संध्या - समय ॥
बड़े - मधुर - स्वर से वीणा थी बज रही ।
बना हुआ था देवालय पीयूष - मय ॥११॥

दोनों सुत थे बारह - वत्सर के हुए ।
शस्त्र - शास्त्र दोनों में वे व्युत्पन्न थे ॥
थे सौंदर्य्य - निकेतन छवि थी अलौकिक ।
धीर, वीर, गंभीर, शील - सम्पन्न थे ॥१२॥

लव मोहित - कर घन के सरस - निनाद को ।
मृदु - कर से थे मंजु - मृदंग बजा रहे ॥
कुश माता की आज्ञा से वीणा लिये ।
इस पद को वन बहु - विमुग्ध थे गा रहे ॥१३॥

पद

जय जय जयति लोक ललाम ।

नवल - नीरद - श्याम ।

शक्ति से शिर - मणि - मुकुट की शुक्ति - सम नृप - नीति ।
सृजन करती है मनोरम न्याय - मुक्ता - दाम ॥ १ ॥

दमक कर अति - दिव्य - द्युति से दिवसनाथ समान ।
है भुवन - तम - काल, उन्नत - भाल अति - अभिराम ॥ २ ॥

गण्ड - मण्डल पर विलम्बित कान्त - केश - कलाप ।
हैउ रग - गति मति - कुटिलता शमन का दृढ़ दाम ॥ ३ ॥

बहु-कलंक-कदन धनुष-सम-वंक-भ्रू 'अवलोक।
सतत होता शमित है मद-मोह-दल संग्राम ॥ ४ ॥

कमल से अनुराग-रंजित-नयन करुण-कटाक्ष।
हैं प्रपंची-विश्व के विश्रान्त-जन विश्राम ॥ ५ ॥

किन्तु वे ही देख होते प्रबल-अत्याचार।
पापकारी के लिये हैं पाप का परिणाम ॥ ६ ॥

हैं उदार-प्रवृत्ति-रत, पर-दुख-श्रवण अनुरक्त।
युगल-कुण्डल से लसित हो युगल-श्रुति छबि-धाम ॥ ७ ॥

हैं कपोल सरस-गुलाब-प्रसून से उत्फुल्ल।
दृग-विकासक दिव्य-वैभव कलित-ललित-निकाम ॥ ८ ॥

उच्चता है प्रकट करती चित्त की, रह उच्च।
श्वास रक्षण में निरत बन नासिका निष्काम ॥ ९ ॥

अधर हैं आरक्त उनमें है भरी अनुरक्ति।
मधुर-रस हैं बरसते रहते वचन अविराम ॥१०॥

दन्त-पंक्ति अमूल्य-मुक्तावलि-सदृश है दिव्य।
जो चमकते हैं सदा कर चमत्कारक काम ॥११॥

वदन है अरविन्द-सुन्दर इन्दु सी है कान्ति।
मृदु-हँसी है बरसती रहती सुधा वसु-याम ॥१२॥

है कपोत समान कंठ परन्तु है वह कम्बु।
वरद बनते हैं सुने जिसका सुरव विधि बाम ॥१३॥

है सुपुष्ट विशाल वक्षस्थल प्रशंसित पूत।
दिव्य समता शरीर में जो है अमर आराम ॥१४॥

विपुल - वक्ष अवलम्ब हैं आजानु - विलसित बाहु।
बहु विभव - आकार हैं जिनके विशद - गुण - ग्राम ॥१५॥

है उदात्त - प्रवृत्ति - मय है न्यूनता की पूर्ति।
भर सरसता से ग्रहण कर उदर अद्भुत नाम ॥१६॥

है सरोरुह सा रुचिर है भक्त - जन - सर्वस्व।
है पुनीत - प्रगति - निलय पद - मूर्त्तिमन्त - प्रणाम ॥१७॥

लोक मोहन हैं तथा हैं मंजुता अवलम्ब।
कोटिशः - कन्दर्प से कमनीयतम हैं राम ॥१८॥३१॥

तिलोकी

जब कुश का बहु - गौरव - मय गाना रुका।
वर - मृदंग - वादन तब वे करने लगे॥
तंत्री - स्वर में निज हृत्तंत्री को मिला।
यह पद गाकर प्रेम रंग में लव रँगे॥३२॥

पद

जय जय रघुकुल - कमल - दिवाकर।
मर्यादा - पुरुषोत्तम सद्गुण - रत्न - निचय - रत्नाकर॥१॥

मिथिला में जब भृगुकुल - पुंगव ने कटु बात सुनाई।
तब कोमल वचनावलि गरिमा किसने थी दिखलाई॥२॥

बहु - विवाह को कह अवैध बन बंधुवर्ग - हितकारक।
कौन एक पत्नीव्रत का है वसुधा - मध्य - प्रचारक॥३॥

पिता के वचन - पण के प्रतिपालन का बन अनुरागी।
किसने हो सानन्द देव - दुर्लभ - विभूति थी त्यागी॥४॥

कुपित-लखन ने जनक कथन को जब अनुदित वतलाया।
धीर-धुरंधर बन तब किसने उनको धैर्य्य बँधाया ॥ ५ ॥

कुल को अवलोकन कर वन के बंधुवर्ग विश्वासी।
गृह की अनबन से बचने को कौन बना वनवासी ॥ ६ ॥

वन की विविध असुविधाओं को भूल विचार भलाई।
भरत-भावनाओं की किसने की थी भूरि बड़ाई ॥ ७ ॥

वानर को नर बना दिखाई किसने नरता-न्यारी।
पशुता में मानवता स्थापन नीति किसे है प्यारी ॥ ८ ॥

निरवलंब अवलंब वने सुग्रीव की बला टाली।
बिला गया किसके बल से बालिशवाली-बलशाली ॥ ९ ॥

दंडनीय ही दंडित हो क्यों दंडित हो सुत-जाया।
अंगद को युवराज बना किसने यह पाठ पढ़ाया ॥१०॥

किसकी कृति से शिला सलिल पर उतराती दिखलाई।
सिंधु बाँध संगठन-शक्ति-गरिमा किसने बतलाई ॥११॥

अहितू को भी दूत भेज हित-नीति गई समझाई।
होते क्षमता, क्षमा-शीलता किसने इतनी पाई ॥१२॥

किसने रंक-विभीषण को दिखला शुचि-नीति प्रणाली।
राज्य-सहित सुर-पुर-विभूति-भूषित-लंका दे डाली ॥१३॥

किसने उसे बिठा पावक में जो थी शुचिता ढाली।
तत्कालिक पावन-प्रतीति की मर्यादा प्रतिपाली ॥१४॥

अवध पहुँच पहले जा कैकेयी को शीश नवाया।
ऐसा उज्वल कलुष-रहित-उर किसका कहाँ दिखाया ॥१५॥

मिले राज जो प्रजारंजिनी - नीति नव - लता, फूली ।
उस पर प्रजा - प्रतीति - प्रीति प्रिय - रुचि - भ्रमरी है भूली ॥१६॥

घर घर कामधेनु है सब पर सुर - तरु की है छाया ।
सरस्वती वरदा है, किस पर है न रमा की माया ॥१७॥

सकल - जनपदों में जन पद है निज पद का अधिकारी ।
विलसित है संयम सुमनों से स्वतंत्रता - फुलवारी ॥१८॥

हुए सत्य - व्यवहार - रुचिरतर - तरुवर - चय के सफलित ।
नगर नगर नागरिक - स्वत्व पाकर है परम प्रफुल्लित ॥१९॥

ग्राम ग्राम ने सीख लिया है उन बीजों का बोना ।
जिससे मही बन शस्य - श्यामला उगल रही है सोना ॥२०॥

चाहे पुरवासी होवे या होवे ग्राम - निवासी ।
सबकी रुचि - चातकी है सुकृति - स्वाति - बूँद की प्यासी ॥२१॥

जिससे भू थी कम्पित रहती दिग्गज थे थर्राते ।
सकल - लोक का जो कंटक था जिससे यम घबराते ॥२२॥

उसकी कुत्सित - नीति कालिमामयी - यामिनी बीते ।
लोक-चकोर सुनीति - रजनि पा शान्ति - सुधा हैं पीते ॥२३॥

हैं सुर - वृन्द सुखित मुनिजन हैं मुदित मिटे दानवता ।
प्रजा - पुंज है पुलकित देखे मानवेन्द्र - मानवता ॥२४॥

होती है न अकाल - मृत्यु अनुकूल - काल है रहता ।
सकल - सुखों का स्रोत सर्वदा है घर घर में बहता ॥२५॥

किसने जन जन के उर - भू में कीर्त्ति बेलि, यों, बोई ।
सकल-लोक-अभिराम राम हैं है न राम सा कोई ॥२६॥५८॥

तिलोकी

लव जब अपने अनुपम - पद को गा चुके।
उसी समय मुकुटालंकृत कमनीय तन॥
एक पुरुष ने मन्दिर में आ प्रेम से।
किया जनकजा के पावन - पद का यजन॥५६॥

उनका अभिनन्दन कर परमादर सहित।
जनक - नन्दिनी ने यह पुत्रों से कहा॥
करो वन्दना इनकी ये पितृव्य हैं।
यह सुन लव - कुश दोनों सुखित हुए महा॥६०॥

उठ दोनों ने की उनकी पद - वन्दना।
यथास्थान फिर जा बैठे दोनों सुअन॥
उनकी आकृति, प्रकृति, कान्ति, कमनीयता।
अवलोकन कर हुए बहु - मुदित रिपु-दमन॥६१॥

और कहा अब आर्य्ये पूरी शान्ति है।
प्रजा - पुंज है सुखित न हलचल है कहीं॥
सारे जनपद मुखरित हैं कल - कीर्त्ति से।
चिन्तित - चित की चिन्तायें जाती रहीं॥६२॥

अवधपुरी में आयोजन है हो रहा -
अश्व - मेध का, कार्य्यों की है अधिकता॥
इसीलिये मैं आज जा रहा हूँ वहाँ।
पूरा द्वादश - वत्सर मधुपुर में बिता॥६३॥

साम - नीति सब सुनीतियों की भित्ति है।
पर सुख - साध्य नहीं है उसकी साधना॥
लोक - रंजिनी - नीति भी सुगम है नहीं।
है गहना गतिमती लोक - आराधना॥६४॥

भिन्न - भाव - रुचि-प्रकृति-भावना से भरित ।
विविध विचाराचार आदि से संकलित ॥
होती है जनता - ममता त्रिगुणात्मिका ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, से आकुलित ॥६५॥

उसका संचालन नियमन या संयमन ।
विविध-परिस्थिति देश, काल अवलोक कर ॥
करते रहना सदा सफलता के सहित ।
सुलभ है न प्रायः दुस्तर है अधिकतर ॥६६॥

यह दुस्तरता तब बनती है बहु - जटिल ।
जब होता है दानवता का सामना ॥
विफला बनती है जब दमन - प्रवृत्ति से ।
लोकाराधन की कमनीया कामना ॥६७॥

द्वादश - वत्सर बीत गये तो क्या हुआ ।
रघुकुल - पुंगव-कीर्त्ति अधिक-उज्वल बनी ॥
राम - राज्य - गगनांगण में है आज दिन ।
चरम - शान्ति की तनी चारुतम - चाँदनी ॥६८॥

वाल्मीकाश्रम में, जो विद्या - केन्द्र है ।
बारह - बत्सर तक रह जाना आपका ॥
सिद्ध हुआ उपकारक है भव के लिये ।
शमन हुआ उससे पापीजन - पाप का ॥६९॥

जितने छात्र वहाँ की शिक्षा प्राप्त कर ।
जिस विभाग में भारत - भूतल के गये ॥
वहीं उन्होंने गाये वे गुण आपके ।
पूत - भाव जिनमें हैं भूरि भरे हुये ॥७०॥

तपस्विनी - आश्रम में मधुपुर से कई -
कन्यायें मैंने भेजीं सद्वंशजा ॥
कुछ दनुकुल की दुहितायें भी साथ थीं ।
जिनमें से थी एक लवण की अंगजा ॥७१॥

वर - विद्यायें पढ़ कुछ वर्ष व्यतीत कर ।
जब वे सब विदुषी बन आईं मधुपुरी ॥
सत्कुल की कन्याओं की तो बात क्या ।
दनुज - सुतायें भी थीं सद्भावों भरी ॥७२॥

आपकी सदाशयता की बातें कहे ।
किसी काल में तृप्ति उन्हें होती न थी ॥
विरह - व्यथा की कथा करुण-स्वर से सुना ।
लवणासुर की कन्या कब रोती न थी ॥७३॥

सच यह है इस समय की चरम-शान्ति का ।
श्रेय इस पुनीताश्रम को है कम नहीं ॥
ज्योति यहाँ जो विदुषी - विदुषों को मिली ।
तम उसके सम्मुख सकता था थम नहीं ॥७४॥

सत्कुल के छात्रों अथवा छात्रियों ने ।
जैसे गौरव - गरिमा गाई आपकी ॥
वैसा ही स्वर दनुज - छात्रियों का रहा ।
कैसे इति होती न अखिल - परिताप की ॥७५॥

देवि ! आपका त्याग, तपोबल, आत्मबल, ।
पातिव्रत का परिपालन, संयम, नियम ॥
सहज - सरलता, दयालुता, हितकारिता ।
लोक - रंजिनी नीति - प्रीति है दिव्यतम ॥७६॥

अतः पुण्य - बल से अशान्ति विदलित हुई ।
हुआ प्रपंच - जनित अपवादों का कदन ॥
बल, विद्या - सम्पन्न सर्व - गुण अलंकृत ।
मिले आपको दिव्य - देवतों से सुअन ॥७७॥

जैसे आश्रम - वास आपका हो सका ।
शान्ति - स्थापन का वर - साधन दिव्य बन ॥
वैसे ही उसने दैविक - बल से किया ।
कुश-लव-सदृश अलौकिक सुअनों का सृजन ॥७८॥

कुलपति के दर्शन कर मैं आया यहाँ ।
उनसे मुझको ज्ञात हुई यह बात है ॥
शीघ्र जायँगे अवध आपके सहित वे ।
अब वियोग - रजनी का निकट प्रभात है ॥७९॥

कुछ पुलकित, कुछ व्यथित बन सती ने कहा ।
शान्ति - स्थापन का भवदीय प्रयत्न भी ॥
है महान, है रघुकुल - गौरव - गौरवित ।
भरा हुआ है उसमें अद्भुत - त्याग भी ॥८०॥

मेरा आश्रम - वास वैध था, उचित था ।
किया आपने जो वह भी कर्त्तव्य था ॥
किन्तु एक दो नहीं द्विदश - वत्सर विरह ।
आपकी प्रिया का विचित्र भवितव्य था ॥८१॥

विधि - विधान में होती निष्ठुरता न जो ।
तो श्रुति - कीर्त्ति परिस्थिति होती दूसरी ॥
नियति - नीति में रहती निर्दयता न जो ।
तो अबला बनती न तरंगित - निधि - तरी ॥८२॥

प्रकृति रहस्यों का पाया किसने पता।
व्याह का समय आह रहा कैसा समय ॥
जो मुझको उर्मिला तथा श्रुति - कीर्त्ति को।
मिला देखने को ऐसा विरहाभिनय ॥८३॥

किन्तु दुःखमय ए घटनायें लोकहित।
भव - हित वसुधा-हित के यदि साधन बनीं ॥
तो वे कैसे शिरोधार्य्य होंगी नहीं।
मंगलमयी न कैसे जायेंगी गिनी ॥८४॥

जैसे शुभ सम्वाद सुनाकर आपने।
आज कृपा कर मुझे बनाया है मुदित ॥
दर्शन देकर तुरत अवधपुर में पहुँच।
वैसे ही श्रुति - कीर्त्ति को बनायें सुखित ॥८५॥

दोहा

सीय - वचन सुन पग - परस पाकर मोद - अपार।
रिपुसूदन ने ली विदा पुत्रों को कर प्यार ॥८६॥

सप्तदश सर्ग

—※—

जन-स्थान

—*—

तिलोकी

पहन हरित-परिधान प्रभूत-प्रफुल्ल हो।
ऊँचे उठ जो रहे व्योम को चूमते॥
ऐसे बहुशः-विटप-वृन्द अवलोकते।
जन-स्थान में रघुकुल-रवि थे घूमते॥ १॥

थी सम्मुख कोसों तक फैली छविमयी।
विविध-तृणावलि-कुसुमावलि-लसिता-धरा॥
रंग-बिरंगी-ललिता-लतिकायें तथा।
जड़ी-बूटियों से था सारा-वन भरा॥ २॥

दूर क्षितिज के निकट असित-घन-खंड से।
विन्ध्याचल के विविध-शिखर थे दीखते॥
बैठ भुवन-व्यापिनी-दिग्वधू-गोद में।
प्रकृति-छटा अंकित करना थे सीखते॥ ३॥

हो सकता है पत्थर का उर भी द्रवित।
पर्वत का तन भी पानी बन है बहा॥
मेरु-प्रस्रवण मूर्त्तिमन्त प्रस्रवण बन।
यह कौतुक था वसुधा को दिखला रहा॥ ४॥

खेल रही थी रवि - किरणावलि को लिये।
विपुल - विटप - छाया से बनी हरी - भरी ॥
थी उत्ताल - तरंगावलि से उमगती।
प्रवाहिता हो गद्गद बन गोदावरी ॥ ५ ॥

कभी केलि करते उड़ते फिरते कभी।
तरु पर बैठे विहग - वृन्द थे बोलते ॥
कभी फुदकते कभी कुतरते फल रहे।
कभी मंदगति से भू पर थे डोलते ॥ ६ ॥

कहीं सिंहिनी सहित सिंह था घूमता।
गरजे वन में जाता था भर भूरि - भय।
दिखलाते थे कोमल - तृण चरते कहीं।
कहीं छलाँगें भरते मिलते मृग - निचय ॥ ७ ॥

द्रुम - शाखा तोड़ते मसलते तृणों को।
लिये हस्तिनी का समूह थे घूमते ॥
मस्तक - मद से आमोदित कर ओक को।
कहीं मत्त - गज बन प्रमत्त थे झूमते ॥ ८ ॥

कभी किलकिलाते थे दाँत निकाल कर।
कभी हिलाकर डालें फल थे खा रहे ॥
कहीं कूद आँखें मटका भौंहें नचा।
कपि - समूह थे निज - कपिता दिखला रहे ॥ ९ ॥

खग - कलरव या पशु - विशेष के नाद से।
कभी कभी वह होती रही निनादिता ॥
सन्नाटा वन - अवनी में सर्वत्र था।
पूरी - निर्जनता थी उसमें व्यापिता ॥१०॥

इधर उधर खोजते हुए शंबूक को।
पंचवटी के पंच-वटों के सामने॥
जब पहुँचे उस समय अतीत-स्मृति हुए।
लिया कलेजा थाम लोक-अभिराम ने॥११॥

पंचवटी प्राचीन-चित्र अंकित हुए।
हृदय-पटल पर, आकुलता चित्रित हुई॥
मर्म्म-वेदना लगी मर्म्म को वेधने।
चुभने लगी कलेजे में मानों सुई॥१२॥

हरे-भरे तरु हरा-भरा करते न थे।
उनमें भरी हुई दिखलाती थी व्यथा॥
खग-कलरव में कलरवता मिलती न थी।
बोल बोल वे कहते थे दुख की कथा॥१३॥

लतिकायें थीं बड़ी-बलायें बन गईं।
हिल हिल कर वे दिल को देती थीं हिला॥
कलिकायें निज कला दिखा सकती न थीं।
जी की कली नहीं सकती थीं वे खिला॥१४॥

शूल के जनक से वे होते ज्ञात थे।
फूल देखकर चित्त भूल पाता न था॥
देख तितिलियों को उठते थे तिलमिला।
भौरों का गुञ्जार उन्हें भाता न था॥१५॥

जिस प्रस्रवण-अचल-लीलाओं के लिये।
लालायिता सदा रहती थी लालसा॥
वह उस भग्न-हृदय सा होता ज्ञात था।
जिसे पड़ा हो सर्व-सुखों का काल सा॥१६॥

कल निनादिता - केलिरता - गोदावरी ।
बनती रहती थी जो मुग्धकरी - बड़ी ॥
दिखलाती थी उस वियोग - विधुरा समा ।
बहा बहा आँसू जो भू पर हो पड़ी ॥१७॥

फिर वह यह सोचने लगे तरुओं - तले ।
प्रिया - उपस्थिति के कारण जो सुख मिला ॥
मेरे अन्तस्तल सरवर में उन दिनों ।
जैसा वर - विनोद का वारिज था खिला ॥१८॥

रत्न - विमण्डित राजभवन के मध्य भी ।
उनकी अनुपस्थिति में वह सुख है कहाँ ॥
न तो वहाँ वैसा आनन्द - विकास है ।
न तो अलौकिक - रस ही बहता है वहाँ ॥१९॥

ए पाँचों वट भी कम सुन्दर हैं नहीं ।
अति - उत्तम इनके भी दल, फल फूल हैं ॥
छाया भी है सुखदा किन्तु प्रिया - बिना ।
वे मेरे अन्तस्तल के प्रतिकूल हैं ॥२०॥

बारह बरस व्यतीत हुए उनके यहीं ।
किन्तु कभी आकुलता होती थी नहीं ॥
कभी म्लानता मुखड़े पर आती न थी ।
जब अवलोका विकसित - बदना वे रहीं ॥२१॥

और सहारा क्या था फल, दल के सिवा ।
था जंगल का वास वस्तु होती गिनी ॥
कभी कमी का नाम नहीं मुँह ने लिया ।
बात असुविधा की कब कानों ने सुनी ॥२२॥

राई-भर भी है न बुराई दीखती।
रग-रग में है भूरि-भलाई ही भरी॥
उदारता है उनकी जीवन-संगिनी।
पर दुख-कातरता है प्यारी-सहचरी॥२३॥

बड़े-बड़े-दुख के अवसर आये तदपि।
कभी नहीं दिखलाईं वे मुझको दुखी॥
मेरा मुख-अवलोके दिन था बीतता।
मेरे सुख से ही वे रहती थीं सुखी॥२४॥

रूखी सूखी बात कभी कहती न थीं।
तरलतम-हृदय में थी ऐसी तरलता॥
असरल-पथ भी बन जाते थे सरल-तम।
सरल-चित्त की अवलोकन कर सरलता॥२५॥

जब सौमित्र-वदन कुम्हलाया देखतीं।
मधुर-मधुर बातें कह समझातीं उन्हें॥
जो कुटीर में होता वे लेकर उसे।
पास बैठकर प्यार से खिलातीं उन्हें॥२६॥

कभी उर्मिला के वियोग की सुधि हुए।
आँसू उनके दृग का रुकता ही न था॥
कभी बनाती रहती थी व्याकुल उन्हें।
मम-माता की विविध-व्यथाओं की कथा॥२७॥

ऐसी परम-सदय-हृदया भव-हित रता।
सत्य-प्रेमिका गौरव-मूर्त्ति गरीयसी॥
बहु-बत्सर से है वियोग-विधुरा बनी।
विधि की विधि ही है भव-मध्य-बलीयसी॥२८॥

जिसके भ्रू ने कभी न पाई बंकता ।
जिसके दृग में मिली न रिस की लालिमा ॥
जिसके मधुर - वचन न कभी अमधुर बने ।
जिसकी कृति - सितता में लगी न कालिमा ॥२६॥

उचित उसे कह बन सच्ची - सहधर्म्मिणी ।
जिसने वन का वास मुदित - मन से लिया ॥
शिरोधार्य्य कह अति - तत्परता के सहित ।
जिसने मेरी आज्ञा का पालन किया ॥३०॥

मेरा सुख जिसके सुख का आधार था ।
मेरी ही छाया जो जाती है कही ॥
जिसका मैं इस भूतल में सर्वस्व था ।
जो मुझ पर उत्सर्गी - कृत - जीवन रही ॥३१॥

यदि वह मेरे द्वारा बहु - व्यथिता बनी ।
विरह - उदधि - उत्ताल - तरंगों में बही ॥
तो क्यों होगी नहीं मर्म्म - पीड़ा मुझे ।
तो क्यों होगा मेरा उर शतधा नहीं ॥३२॥

एक दो नहीं द्वादश - वत्सर हो गये ।
किसने इतनी भव - तप की आँचें सहीं ॥
कब ऐसा व्यवहार कहीं होगा हुआ ।
कभी घटी होगी ऐसी घटना नहीं ॥३३॥

धीर - धुरंधर ने फिर धीरज धर सँभल ।
अपने अति - आकुल होते चित से कहा ॥
स्वाभाविकता स्वाभाविकता है अतः ।
उसके प्रबल - वेग को कब किसने सहा ॥३४॥

किन्तु अधिक होना अधीर वांछित नहीं।
जब कि लोक - हित हैं लोचन के सामने ॥
प्रिया को बनाया है वर भव - दृष्टि में।
लोकहित - परायण उनके गुण ग्राम ने ॥३५॥

आज राज्य में जैसी सच्ची - शान्ति है।
जैसी सुखिता पुलक - पूरिता है प्रजा ॥
जिस प्रकार ग्रामों, नगरों, जनपदों में।
कलित - कीर्त्ति की है उड़ रही ललित ध्वजा ॥३६॥

वह अपूर्व है, है बुध - वृन्द - प्रशंसिता।
है जनता - अनुरक्ति - भक्ति उसमें भरी ॥
पुण्य - कीर्त्तन के पावन - पाथोधि में।
डूब चुकी है जन - श्रुति की जर्जर तरी ॥३७॥

बात लोक - अपवाद की किसी ने कभी।
जो कह दी थी भ्रम प्रमादवश में पड़े ॥
उसकी याद हुए भी अवसर पर किसी।
अब हो जाते हैं उसके रोयें खड़े ॥३८॥

बिना रक्त का पात प्रजा - पीड़न किये।
बिना कटे कितने ही लोगों का गला ॥
साम - नीति अवलम्बन कर संयत बने।
लोकाराधन - बल से टली प्रबल - बला ॥३९॥

इसका श्रेय अधिकतर है महि - सुता को।
उन्हीं की सुकृति - बल से है बाधा टली ॥
उन्हींके अलौकिक त्यागों के अंक में।
लोक - हितकरी शान्ति - लतिका है पली ॥४०॥

यदि प्रसन्न-चित से मेरी बातें समझ।
वे कुलपति के आश्रम में जातीं नहीं ॥
वहाँ त्याग की मूर्त्ति दया की पूर्त्ति बन।
जो निज दिव्य-गुणों को दिखलातीं नहीं ॥४१॥

जो घबरातीं विरह-व्यथायें सोचकर।
मम उत्तरदायित्व समझ पातीं नहीं ॥
जो सुख-वांछा अन्तस्तल में व्यापती।
जो कर्त्तव्य-परायणता भाती नहीं ॥४२॥

तो अनर्थ होता मिट जाते बहु-सदन।
उनका सुख बन जाता बहुतों का असुख ॥
उनका हित कर देता कितनों का अहित।
उनका मुख हो जाता भवहित से विमुख ॥४३॥

यह होता मानवता से मुँह मोड़ना।
यह होती पशुता जो है अति-निन्दिता ॥
ऐसा कर वे च्युत हो जातीं स्वपद से।
कभी नहीं होतीं इतनी अभिनन्दिता ॥४४॥

है प्रधानता आत्मसुखों की विश्व में।
किन्तु महत्ता आत्म त्याग की है अधिक ॥
जगती में है किसे स्वार्थ प्यारा नहीं।
वर नर हैं परमार्थ-पंथ के ही पथिक ॥४५॥

स्वार्थ-सिद्धि या आत्म-सुखों की कामना।
प्रकृति-सिद्ध है स्वाभाविक है सर्वथा ॥
किन्तु लोकहित, भवहित के अविरोध से।
अकर्त्तव्य बन जायेगी वह अन्यथा ॥४६॥

इन बातों को सोच जनक - नन्दिनी की।
तपोभूमि की त्यागमयी शुचि - साधना॥
लोकोत्तर है वह सफला भी हुई है।
वह परार्थ की है अनुपम - आराधना॥४७॥

रही बात उस द्विदश - वात्सरिक विरह की।
जिसे उन्होंने है संयत - चित से सहा॥
उसकी अतिशय - पीड़ा है, पर कब नहीं।
बहु - संकट - संकुल परार्थ का पथ रहा॥४८॥

अन्य के लिये आत्म - सुखों का त्यागना।
निज हित की पर - हित निमित्त अवहेलना॥
देश, जाति या लोक - भलाई के लिये।
लगा लगा कर दाँव जान पर खेलना॥४९॥

अति दुस्तर है, है बहु - संकट - आकलित।
पर सत्पथ में उनका करना सामना॥
और आत्मबल से उनपर पाना विजय।
है मानवता की कमनीया - कामना॥५०॥

जिसका पथ - कण्टक संकट बनता नहीं।
भवहित - रत हो जो न आपदा से डरा॥
सत्पथ में जो पवि को गिनता है कुसुम।
उसे लाभ कर धन्या बनती है धरा॥५१॥

प्रिया रहित हो अल्प व्यथित मैं नहीं हूँ।
पर कर्तव्य से च्युत हो पाया नहीं॥
इसी तरह हैं कृत्यरता जनकांगजा।
काया जैसी क्यों होगी छाया नहीं॥५२॥

हाँ इसका है खेद परिस्थिति क्यों बनी -
ऐसी जो सामने आपदा आगई ॥
यह विधान विधि का है नियति - रहस्य है ।
कब न विवशता मनु - सुत को इससे हुई ॥५३॥

इस प्रकार जब स्वाभाविकता पर हुए ।
धीर - धुरंधर - राम आत्म - बल से जयी ॥
उसी समय बनदेवी आकर सामने ।
खड़ी हो गई जो थीं विपुल व्यथामयी ॥५४॥

उन्हें देखकर रघुकुल पुंगव ने कहा ।
कृपा हुई यदि देवि ! आप आईं यहाँ ॥
वनदेवी ने स्वागत कर सविनय कहा ।
आप पधारें, रहा भाग्य ऐसा कहाँ ॥५५॥

किन्तु खिन्न मैं देख रही हूँ आपको ।
आह ! क्या जनकजा की सुधि है हो गई ॥
कहूँ तो कहूँ क्या उह ! मेरे हृदय में ।
आत्रेयी हैं बीज व्यथा के बो गई ॥५६॥

जनकनन्दिनी जैसी सरला कोमला ।
परम - सहृदया उदारता - आपूरिता ॥
दयामयी हित - भरिता पर - दुख - कातरा ।
करुणा - वरुणालया अवैध - विदूरिता ॥५७॥

मैंने अवनी में अब तक देखी नहीं ।
वे मनोज्ञता - मानवता की मूर्त्ति हैं ॥
भरी हुई है उनमें भवहित - कारिता ।
पति - परायणा हैं पातिव्रत - पूर्त्ति हैं ॥५८॥

आप कहीं जाते, आने में देर कुछ—
हो जाती तो चित्त को न थीं रोकती ॥
इतनी आकुल वे होती थीं उस समय।
आँखें पल पल थीं पथ को अवलोकती ॥५९॥

किसी समय जब जाती उनके पास मैं।
यही देखती वे सेवा में हैं लगी ॥
आप सो रहे हैं वे करती हैं व्यजन।
या अनुरंजन की रंगत में हैं रँगी ॥६०॥

वास्तव में वे पति प्राणा हैं मैं उन्हें।
चन्द्रवदन की चकोरिका हूँ जानती ॥
हैं उनके सर्वस्व आप ही मैं उन्हें।
प्रेम के सलिल की सफरी हूँ मानती ॥६१॥

रोमांचित - तन हुआ कलेजा हिल गया।
दृग के सम्मुख उड़ी व्यथाओं की ध्वजा ॥
जब मेरे विचलित कानों ने यह सुना।
हैं द्वादश - वत्सर - वियोगिनी जनकजा ॥६२॥

विधि ने उन्हें बनाया है अति - सुन्दरी।
उनका अनुपम - लोकोत्तर - सौंदर्य्य है ॥
पर उसके कारण जो उत्पीड़न हुआ।
वह हृत्कम्पित - कर है परम - कदर्य्य है ॥६३॥

जो साम्राज्ञी हैं जो हैं नृप - नन्दिनी।
रत्न - खचित - कञ्चन के जिनके हैं सदन ॥
उनका न्यून नहीं बहु बरसों के लिये।
बार बार बनता है वास - स्थान वन ॥६४॥

जो सर्वोत्तम - गुण - गौरव की मूर्त्ति हैं।
वसुधा - वांछित जिनका धूत - प्रयोग है ॥
एक दो नहीं बारह बारह बरस का।
उनका हृदय - विदारक वैध - वियोग है ॥६५॥

विधि - विधान में क्या विधि है क्या अविधि है।
विबुध - वृन्द भी इसे बता पाते नहीं ॥
सही गईं ऐसी घटनायें, पर उन्हें।
थाम कलेजा सहनेवालों ने सहीं ॥६६॥

हरण अचानक जब पति प्राणा का हुआ।
उनके प्रतिपालित - खग - मृग मुझको मिले ॥
पर वे मेरी ओर ताकते तक न थे।
वे कुछ ऐसे जनक - सुता से थे हिले ॥६७॥

शुक ने तो दो दिन तक खाया ही नहीं।
करुण - स्वरों से रही बिलखती शारिका ॥
मातृहीन - मृग - शावक तृण चरता न था।
यद्यपि मैं थी स्वयं बनी परिचारिका ॥६८॥

कभी दिखाते वे ऐसे कुछ भाव थे।
जिनसे उर में उठती दुख की आग बल ॥
उनकी खग - मृग तक की प्यारी प्रीति को।
बतलाते थे मृग - शावक के दृग - सजल ॥६९॥

द्रवण - शीलता जैसी थी उनमें भरी।
वैसा ही अन्तस्तल दयानिधान था ॥
अण्डज, पिण्डज जीवों की तो बात क्या।
म्लान - विटप देखे, मुख बनता म्लान था ॥७०॥

दूब कुपुटते भी न उन्हें देखा कभी।
लता और तृण से भी उनको प्यार था॥
प्रेम - परायणता की वे हैं पुत्तली।
स्नेह - सिक्त उनका अद्भुत - संसार था॥७१॥

आह! वही क्यों प्रेम से प्रवंचित हुई।
क्यों वियोग - वारिधि - आवर्त्तों में पड़ी॥
जो सतीत्व की लोक - बन्दिता - मूर्त्ति है।
उसके सम्मुख क्यों आई ऐसी घड़ी॥७२॥

यह कैसी अकृपा? क्या इसका मर्म्म है।
परम - व्यथित हृदया मैं क्यों समझूँ इसे॥
कैसे इतना उतर गई वह चित्त से।
हृदय - वल्लभा आप समझते थे जिसे॥७३॥

आत्रेयी कहती थी बारह बरस में।
नहीं गये थे आप एक दिन भी वहाँ॥
कहाँ वह अलौकिक पल पल का सम्मिलन।
और लोक - कम्पितकर यह अमिलन कहाँ॥७४॥

कभी जनकजा जीती रह सकतीं नहीं।
जो न सम्मिलन - आशा होती सामने॥
क्या न कृपा अब भी होवेगी आपकी।
लोगों को क्यों पड़ें कलेजे थामने॥७५॥

संयत हो यह कहा लोक - अभिराम ने।
देवि! आप हैं जनकसुता - प्रिय - सहचरी॥
हैं विदुषी हैं कोमल - हृदया आपके -
अन्तस्तल में उनकी ममता है भरी॥७६॥

उपालम्भ है उचित और मुझको स्वयं।
इन बातों की थोड़ी पीड़ा है नहीं॥
किन्तु धर्म्म की गति है सूक्ष्म कही गई।
जहाँ सुकृति है शान्ति विलसती है वहीं॥७७॥

लोकाराधन राजनीति - सर्वस्व है।
हैं परार्थ, परमार्थ, पंथ भी अति - गहन॥
पर यदि ए कर्तव्य और सद्धर्म हैं।
सहन - शक्ति तो क्यों न करे संकट सहन॥७८॥

कुलपति - आश्रम - वास जनक-नन्दिनी का।
हम दोनों के सद्विचार का मर्म्म है॥
वेद-विहित बुध - वृन्द - समर्थित पूत - तम।
भवहित - मंगल - मूलक वांछित - कर्म्म है॥७९॥

कुछ लोगों का यह विचार है आत्म - सुख।
है प्रधान है वसुधा में वांछित वही॥
तजे विफलता - पथ बाधाओं से बचे।
मनुज को सफलता दे देती है मही॥८०॥

वे कहते हैं 'नरक, स्वर्ग, अपवर्ग की।
जन्मान्तर या लोकान्तर की कल्पना॥
है परोक्ष की बात हुई प्रत्यक्ष कब।
है परार्थ भी अतः व्यर्थ की जल्पना॥८१॥

यह विचार है स्वार्थ-भरित भ्रम-आकलित।
कर इसका अनुसरण ध्वंस होती धरा॥
है परार्थ, परमार्थवाद ही पुण्यतम।
वह है भवहित के सद्भावों से भरा॥८२॥

स्वार्थ वह तिमिर है जिसमें रहकर मनुज ।
है टटोलता रहता अपनी भूति को ॥
है परार्थ परमार्थ दिव्य वह ओप जो ।
उद्भासित करता है विश्व - विभूति को ॥८३॥

आत्म - सुख - निरत आत्म-सुखों में मग्न हो ।
अवलोकन करता रहता निज - ओक है ॥
कहलाकर कुल का, स्वजाति का, देश का ।
लोक - सुख - निरत बनता भव आलोक है ॥८४॥

इसी पंथ की पथिका हैं जनकांगजा ।
उनका आश्रम का निवास सफलित हुआ ॥
मिले अलौकिक - लाल हो गया लोक - हित ।
कलुषित-जन-अपवाद काल - कवलित हुआ ॥८५॥

अश्वमेध का अनुष्ठान हो चुका है ।
नीति की कलिततम कलिकायें खिलेंगी ॥
कृपा दिखा उत्सव में आयें आप भी ।
वहाँ जनक - नन्दिनी आपको मिलेंगी ॥८६॥

दोहा

चले गये रघुकुल तिलक कह पुलकित - कर बात ।
वनदेवी अविकच - बदन बना विकच - जलजात ॥८७॥

अष्टादश सर्ग

—:-|—

स्वर्गारोहण

—*—

तिलोकी

शीत - काल था वाष्पमय बना व्योम था ।
अवनी - तल में था प्रभूत - कुहरा भरा ॥
प्रकृति - वधूटी रही मलिन - वसना बनी ।
प्राची सकती थी न खोल मुँह मुसुकुरा ॥ १ ॥

ऊषा आई किन्तु विहँस पाई नहीं ।
राग - मयी हो बनी विरागमयी रही ॥
विकस न पाया दिगंगना - वर - बदन भी ।
बात न जाने कौन गई उससे कही ॥ २ ॥

ठंढी - साँस समीरण भी था भर रहा ।
था प्रभात के वैभव पर पाला पड़ा ॥
दिन - नायक भी था न निकलना चाहता ।
उन पर भी था कु - समय का पहरा कड़ा ॥ ३ ॥

हरे - भरे - तरुवर मन मारे थे खड़े ।
पत्ते कँप कँप कर थे आँसू डालते ॥
कलरव करते आज नहीं खग - वृन्द थे ।
खोतों से वे मुँह भी थे न निकालते ॥ ४ ॥

कुछ उँजियाला होता फिर घिरता तिमिर।
यही दशा लगभग दो घंटे तक रही॥
तदुपरान्त रवि - किरणावलि ने बन सबल।
मानीं बातें दिवस - स्वच्छता की कही॥ ५॥

कुहरा टला दमकने अवधपुरी लगी।
दिवनायक ने दिखलाई निज - दिव्यता॥
जन-कल-कल से हुआ आकलित कुल - नगर।
भवन भवन में भूरि - भर - गई - भव्यता॥ ६॥

अवध - वर - नगर अश्वमेध - उपलक्ष से।
समधिक - सुन्दरता से था सज्जित हुआ॥
जन - समूह सुन जनक - नन्दिनी - आगमन।
था प्रमोद - पाथोधि में निमज्जित हुआ॥ ७॥

ऋषि, महर्षि, विबुधों, भूपालों, दर्शकों।
संत - महंतों, गुणियों से था पुर भरा॥
विविध - जनपदों के बहु - विध-नर वृन्द से।
नगर बन गया देव - नगर था दूसरा॥ ८॥

आज यही चर्चा थी घर घर हो रही।
जन जन चित की उत्कण्ठा थी चौगुनी॥
उत्सुकता थी मूर्त्तिमन्त बन नाचती।
दर्शन की लालसा हुई थी सौगुनी॥ ९॥

यदि प्रफुल्ल थी धवल - धाम की धवलता।
पहन कलित - कुसुमावलि-मंजुल - मालिका॥
बहु - वाद्यों की ध्वनियों से हो हो ध्वनित।
अट्टहास तो करती थी अट्टालिका॥१०॥

यदि विलोकते पथ थे वातायन - नयन।
सजे - सदन स्वागत - निमित्त तो थे लसे ॥
थे समस्त - मन्दिर बहु - मुखरित कीर्त्ति से।
कनक के कलस उनके थे उल्लसित से ॥११॥

कल - कोलाहल से गलियाँ भी थीं भरी।
ललक - भरे - जन जहाँ तहाँ समवेत थे ॥
स्वच्छ हुई सड़कें थीं, सुरभित, सुरभि से -
वने चौरहे भी चारुता - निकेत थे ॥१२॥

राजमार्ग पर जो बहु - फाटक थे बने।
कारु - कार्य्य उनके अतीव - रमणीय थे ॥
थीं झालरें लटकती मुक्ता - दाम की।
कनक - तार के काम परम - कमनीय थे ॥१३॥

लगी जो ध्वजायें थीं परम - अलंकृता।
विविध - स्थलों मन्दिरों पर तरुवरों पर ॥
कर नर्त्तन कर शुभागमन - संकेत बहु।
दिखा रही थीं दृश्य बड़े ही मुग्धकर ॥१४॥

सलिल - पूर्ण नव - आम्र - पल्लवों से सजे।
पुर - द्वारों पर कान्त - कलस जो थे लसे ॥
वे यह व्यंजित करते थे मुझमें, मधुर -
मंगल - मूलक - भाव मनों के हैं बसे ॥१५॥

राजभवन के तोरण पर कमनीयतम।
नौबत बड़े मधुर - स्वर से थी बज रही ॥
उसके सम्मुख जो अति - विस्तृत - भूमि थी।

मनोहारिता - हाथों से थी सज रही ॥१६॥

जो विशालतम - मण्डप उसपर था बना।
धीरे धीरे वह सशान्ति था भर रहा॥
अपने सज्जित - रूप अलौकिक - विभव से।
दर्शक - गण को बहु - विमुग्ध था कर रहा॥१७॥

सुनकर शुभ - आगमन जनक - नन्दिनी का।
अभिनन्दन के लिए रहे उत्कण्ठ सब॥
कितनों की थी यह अति - पावन - कामना।
अवलोकेंगे पतिव्रता - पद - कंज कब॥१८॥

स्थान बने थे भिन्न भिन्न सबके लिये।
ऋषि, महर्षि, नृप-वृन्द, विबुध-गण-मण्डली॥
यथास्थान थी बैठी अन्य - जनों सहित।
चित्त - वृत्ति थी बनी विकच - कुसुमावली॥१९॥

एक भाग था बड़ा - भव्य मञ्जुल - महा।
उसमें राजभवन की सारी - देवियाँ॥
थीं विराजती कुल - बालाओं के सहित।
वे थीं वसुधातल की दिव्य - विभूतियाँ॥२०॥

जितने आयोजन थे सज्जित - करण के।
नगर में हुए जो मंगल - सामान थे॥
विधि - विडम्बना-विवश तुषार - प्रपात से।
सभी कुछ न कुछ अहह हो गये म्लान थे॥२१॥

गगन - विभेदी जयजयकारों के जनक।
विपुल - उल्लसित जनता के आह्लाद ने॥
जनक - नन्दिनी पुर - प्रवेश की सूचना।
दी अगणित - वाद्यों के तुमुल - निनाद ने॥२२॥

सबसे आगे वे सैकड़ों सवार थे।
जो हाथों में दिव्य-ध्वजायें थे लिये॥
जो उड़ उड़ कर यह सूचित कर रही थीं।
कीर्त्ति-धरा में होती है सत्कृति किये॥२३॥

इनके पीछे एक दिव्यतम-यान था।
जिसपर बैठे हुए थे भरत रिपुदमन॥
देख आज का स्वागत महि-नन्दिनी का।
था प्रफुल्ल शतदल जैसा उनका बदन॥२४॥

इसके पीछे कुलपति का था रुचिर-रथ।
जिसपर वे हो समुत्फुल्ल आसीन थे॥
बन विमुग्ध थे अवध-छटा अवलोकते।
राम-चरित की ललामता में लीन थे॥२५॥

जनक-सुता-स्यंदन इसके उपरान्त था।
जिसपर थी कुसुमों की वर्षा हो रही॥
वे थीं उसपर पुत्रों-सहित विराजती।
दिव्य-ज्योति मुख की थी भव-तम खो रही॥२६॥

कुश मणि-मण्डित-छत्र हाथ में थे लिये।
चामीकर का चमर लिये लव थे खड़े॥
एक ओर सादर बैठे सौमित्र थे।
देखे जनता-भक्ति थे प्रफुल्लित-बड़े॥२७॥

सबके पीछे बहुशः-विशद-विमान थे।
जिनपर थी आश्रम-छात्रों की मण्डली॥
छात्राओं की संख्या भी थोड़ी न थी।
बनी हुई थी जो वसंत-विटपावली॥२८॥

धीरे धीरे थे समस्त - रथ चल रहे।
विविध वाद्य - वादन - रत वादक - वृन्द था ॥
चारों ओर विपुल - जनता का यूथ था।
जो प्रभात का बना हुआ अरविन्द था ॥२९॥

बरस रही थी लगातार सुमनावली।
जय - जय - ध्वनि से दिशा ध्वनित थी हो रही ॥
उमड़ा हुआ प्रमोद - पयोधि - प्रवाह था।
'प्रकृति' उरों में 'सुकृति' बीज थी बो रही ॥३०॥

कुश - लव का श्यामावदात सुन्दर - बदन।
रघुकुल - पुंगव सी उनकी - कमनीयता ॥
मातृ - भक्ति - रुचि वेश - वसन की विशदता।
परम - सरलता मनोभाव - रमणीयता ॥३१॥

मधुर - हँसी मोहिनी - मूर्त्ति मृदुतामयी।
कान्ति - इन्दु सी दिन - मणि सी तेजस्विता ॥
अवलोके द्विगुणित होती अनुरक्ति थी।
बनती थी जनता विशेष - उत्फुल्लिता ॥३२॥

जब मुनि - पुंगव रथ समेत महि - नन्दिनी।
रथ पहुँचा सज्जित - मंडप के सामने ॥
तब सिंहासन से उठ सादर यह कहा।
मण्डप के सब महज्जनों से राम ने ॥३३॥

आप लोग कर कृपा यहीं बैठे रहें।
जाता हूँ मुनिवर को लाऊँगा यहीं ॥
साथ लिये मिथिलाधिप की नन्दिनी को।
यथा शीघ्र फिर आ जाऊँगा यहीं ॥३४॥

रथ पहुँचा ही था कि कहा सौमित्र ने।
आप सामने देखें प्रभु हैं आ रहे॥
श्रवण - रसायन के समान यह कथन सुन।
स्रोत - सुधा के सिय अन्तस्तल में बहे॥३५॥

उसी ओर अति - आकुल - आँखें लग गईं।
लगीं निछावर करने वे मुक्तावली॥
बहुत समय से कुम्हलाई आशा - लता।
कल्पवेलि सी कामद बन फूली फली॥३६॥

रोम रोम अनुपम - रस से सिञ्चित हुआ।
पली अलौकिकता - कर से पुलकावली॥
तुरत खिली खिलने में देर हुई नहीं।
बिना खिले खिलती है जो जी की कली॥३७॥

घन - तन देखे वह वासना सरस बनी।
जो वियोग-तप - ऋतु - आतप से थी जली॥
विधु - मुख देखे तुरत जगमगा वह उठी।
तम - भरिता थी जो दुश्चिन्ता की गली॥३८॥

जब रथ से थीं उतर रही जनकांगजा।
उसी समय मुनिवर की करके वन्दना॥
पहुँचे रघुकुल - तिलक वल्लभा के निकट।
लोकोत्तर था पति - पत्नी का सामना॥३९॥

ज्योंही पति प्राणा ने पति - पद - पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव - मूर्त्ति सी बन गईं॥
और हुए अतिरेक चित्त - उल्लास का।
दिव्य - ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥४०॥

लगी वृष्टि करने सुमनावलि की त्रिदश।
तुरत दुंदुभी-नभतल में बजने लगी॥
दिव्य-दृष्टि ने देखा, है दिव-गामिनी।
वह लोकोत्तर-ज्योति जो धरा में जगी॥४१॥

वह थी पातिव्रत-विमान पर विलसती।
सुकृति, सत्यता, सात्विकता की मूर्त्तियाँ॥
चमर डुलाती थीं करती जयनाद थीं।
सुर-बालायें करती थीं कृति-पूर्त्तियाँ॥४२॥

क्या महर्षि क्या विबुध-वृन्द क्या नृपति-गण।
क्या साधारण जनता क्या सब जानपद॥
सभी प्रभावित दिव्य-ज्योति से हो गये।
मान लोक के लिये उसे आलोक प्रद॥४३॥

मुनि-पुङ्गव-रामायण की बहु-पंक्तियाँ।
पाकर उसकी विभा जगमगाईं अधिक॥
कृति-अनुकूल ललिततम उसके ओप से।
लौकिक बातें भी बन पाईं अलौकिक॥४४॥

कुलपति-आश्रम के छात्रों ने लौटकर।
दिव्य-ज्योति-अवलम्बन से गौरव-सहित॥
वह आभा फैलाई निज निज प्रान्त में।
जिसके द्वारा हुआ लोक का परम-हित॥४५॥

तपस्विनी-छात्राओं के उद्बोध से।
दिव्य ज्योति-बल से बल सका प्रदीप वह॥
जिससे तिमिर-विदूरित बहु-घर के हुए।
लाख लाख मुखड़ों की लाली सकी रह॥४६॥

ऋषि, महर्षियों, विबुधों, कवियों, सज्जनों ।
हृदयों में बस दिव्य - ज्योति की दिव्यता ॥
भवहित - कारक सद्भावों में सर्वदा ।
भूरि भूरि भरती रहती थी भव्यता ॥४७॥

जनपदाधि - पतियों नरनाथों - उरों में ।
दिव्य - ज्योति की कान्ति बनी राका - सिता ॥
रंजन - रत रह थी जन जन की रंजिनी ।
सुधामयी रह थी वसुधा में विलसिता ॥४८॥

साधिकार - पुरुषों साधारण - जनों के ।
उरों में रमी दिव्य - ज्योति की रम्यता ॥
शान्तिदायिनी बन थी भूति - विधायिनी ।
कहलाकर कमनीय - कल्पतरु की लता ॥४९॥

यथाकाल यह दिव्य-ज्योति भव हित - रता ।
आर्य्य - सभ्यता की अमूल्य - निधि सी बनी ॥
वह भारत - सुत-सुख-साधन वर-व्योम में ।
है लोकोत्तर ललित चाँदनी सी तनी ॥५०॥

उसके सारे - भाव भव्य हैं बन गये ।
पाया उसमें लोकोत्तर - लालित्य है ॥
इन्दु कला सी है उसमें कमनीयता ।
रचा गया उस पर जितना साहित्य है ॥५१॥

उसकी परम - अलौकिक आभा के मिले ।
दिव्य बन गई हैं कितनी ही उक्तियाँ ॥
स्वर्णाक्षर हैं मसि - अंकित - अक्षर बने ।
मणिमय हैं कितने ग्रंथों की पंक्तियाँ ॥५२॥

आज भी अमित - नयनों की वह दीप्ति है ।
आज भी अमित - हृदयों की वह शान्ति है ॥
आज भी अमित तम - भरितों की है विभा ।
आज भी अमित - मुखड़ों की वह कान्ति है ॥५३॥

आज भी कलित उसकी कीर्त्ति - कलाप से ।
मंजुल - मुखरित उसका अनुपम - ओक है ॥
आज भी परम - पूता भारत की धरा ।
आलोकित है उसके शुचि आलोक से ॥५४॥

उठकर इतना उच्च ठहरती क्यों यहाँ ।
इस ध्वनि से ही उस दिन थी ध्वनिता - मही ॥
अपने दिव्य गुणों की दिखला दिव्यता ।
वह तो स्वर्गीया ही जाती थी कही ॥५५॥

दोहा

अधिक - उच्च उठ जनकजा क्यों धरती तजतीं न ।
बने दिव्य से दिव्य क्यों दिव देवी बनतीं न ॥५६॥